सन्मति साहित्य-रत्नमाला का १८ वाँ रत्न

दिव्य-ज्योति

जीवन चरित्र

श्री ऋषिराजजी महाराज

लेखक
काशीराम चावला
सिविल लाइन-लुधियाणा-पंजाब

प्रकाशक
श्री सन्मति ज्ञानपीठ—लोहामंडी आगरा

प्रकाशक
श्री सन्मति ज्ञान पीठ
लोहामंडी आगरा

प्रथम प्रवेश स० २००६ अर्घ मू०
११०० २६-१-५० २॥)

मुद्रक—
एज्यूकेशनल प्रेस, आगरा।

॥ ॐ ॥

समर्पण—

पुण्य भूमि भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता के
उपलक्ष में—पूज्य गुरुदेव गणी—
श्री श्यामलाल जी महाराज की
पुनीत सेवा में सादर
स भक्ति भाव—
समर्पण
ॐ

समर्पक—

सद् गुण प्रेमी-सन्त सेवक
"काशीराम चावला"

स्वतन्त्रता दिवस,
२००६

ता० २६-१-१९५०

धन्यवाद

इस पुस्तक के प्रकाशन में जिन धर्म प्रेमी सज्जनों ने अपना आर्थिक सहयोग दिया है, वे धन्यवाद के पात्र हैं।

उनके शुभ नाम

१२५) श्रीमान् ला० नानकचन्द्रजी जैन कांधला
१००) गुप्त दान
१५१) जैन श्री संघ श्यामड़ी (रोहतक)
२५१) श्रीमान् ला० मुखत्यारसिंहजी जैन मुजफ्फर नगर
४३५) जैन श्री संघ करनाल (इसमें दो सौ रु० श्रीमान् ला० राधाकृष्णजी सतीशचन्द्रजी जैन करनाल के हैं)
१०१) श्रीमान् ला० शीसरामजी मूलचन्दजी जैन C/O ला० चतरसैनजी जैन सफीदों मंडी
१००) श्रीमान् ला० श्रीचन्द्रजी त्रिलोकचन्द्रजी जैन दिल्ली
१००) „ ला० लक्ष्मीचन्द्रजी लालचन्द्रजी जैन „
१२५) „ ला० मित्रसैनजी राम रिछपालसिंहजी जैन एलम
५१) श्रीमान् ला० बनारसीदासजी महेन्द्रपालजी जैन सफीदों मंडी
२५) श्रीमान् ला० जैकंवारसिंहजी सत्य नारायणजी जैन सफीदों मंडी

विषय-सूची

एक ज्योतिर्मय जीवन की झाँकी

(ले० कविरत्न उपाध्याय पंडित श्री अमरचन्द्रजी महाराज)

(१)

आज के स्वार्थ प्रधान युग में जहाँ भोग-विलास का तूफानी समुद्र हिलोरें भर रहा है, ईर्ष्या और द्वेष का ववंडर उठ रहा है, क्रोध और अहंकार की प्रलयङ्कर वर्षा हो रही है, और जहाँ जनता अज्ञान तिमिर में अपना रास्ता भूलकर इधर-उधर भटक रही है, वहाँ एक ऐसी दिव्य ज्योति की परम आवश्यकता है, जो जनता को भोग विलास के तूफानी समुद्र से निकाल कर, त्याग-वैराग्य के हिमगिरि पर पहुँचा सके, ईर्ष्या और द्वेष के ववंडर से बचाकर प्रेम तथा भ्रातृत्व भाव की उच्च भूमिका पर आसीन कर सके, क्रोध और अहंकार की प्रलयंकर वर्षा से रक्षा कर के शान्ति तथा नम्रता के सुरक्षित भवन मे बैठा सके और जो अज्ञान, मोह एवं मिथ्यात्व के विनाशकारी अन्धकार से सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र की ज्वलन्त सर्चलाइट के द्वारा जनता के गन्तव्य-पथ को भली भाँति आलोकित कर सके ? वह जगमगाती सर्चलाइट आपको इस 'दिव्य ज्योति' मे मिल सकेगी।

(२)

क्या आप ने कभी समुद्र की यात्रा की है। आपने देखा होगा कि रजनी के प्रगाढ़ अन्धकार में, समुद्र के बन्दरगाह पर ज्योति स्तम्भ अपने आलोक से जगमगाते रहते हैं। अन्धकार के कारण राह भूले भटकते हुए जहाजों का वे पथ-प्रदर्शन करते रहते हैं।

संसार सागर में मानव भी अपने जीवन जहाज को खे रहा है। अज्ञान, मोह ममता और मिथ्यात्व का अँधेरा उसके जीवन जहाज की प्रगति में वाधक वन रहा है। वह इधर-उधर टकराता फिर रहा है। उसे एक दिव्य-प्रकाश की आवश्यकता है, जो कि उसका मार्ग निर्देश कर सके। रास्ते पर ला सके। हाँ, तो यह 'दिव्य ज्योति' मानव के जीवन जहाज को संसार सागर मे अज्ञान और मिथ्यात्व के तिमिरि से वचाने के लिए ज्योति स्तम्भ का कार्य करेगा। इसके चमचमाते प्रकाश मे मानव अपने जीवन पोत को सुखेन अनायासेन खे सकेगा। उसे केवल अपने चारित्र रूपी विद्युत् की आवश्यकता रहेगी। उसका गन्तव्य–पथ तो दिव्य ज्योति के अमर आलोक से जगमगा रहा है।

(३)

रेगिस्तान के किसी यात्री से पूछो कि जव आँधी, तूफान, और भीषण अंधड़ से तुम्हारा गन्तव्य मार्ग, धूल धूसरित होकर पद चिह्नों से रहित हो जाता है, तव तुम्हारी क्या दशा होती है? वह किंकर्तव्य विमूढ, विवश और लाचार होकर, मार्ग-विशेषज्ञ राही की वाट देखा करता है। और जव रास्ता जानने वाला राही निकल जाता है, तक उसके पद चिन्हों का सहारा लेकर वह भी चल पड़ता है।

जीवन के रेगिस्तान में राह भूले, इधर-उधर भटके हुए मानवों के लिए 'दिव्य ज्योति' के चरित नायक के चरण कमलों के पद चिह्न अमिट रूप में आज भी राह वता रहे हैं, गन्तव्य मार्ग का स्पष्ट रूपेण निर्देश कर रहे हैं।

(४)

परिश्रम से क्लान्त, थका हुआ मनुष्य जव किसी रमणीय

उपवन में जा पहुँचता है, तब वह स्वस्थता तथा प्रसन्नता का अनुभव करता है। सरस मन्द समीर के सुहाते हुए झोंके रंग विरंगे कुसुमों की भीनी सुगन्ध और उपवन का शान्ति मय वातावरण उस परिश्रान्त मनुष्य की थकावट को दूर कर देता है। आगन्तुक आनन्द और सन्तोष का अनुभव करने लगता है। उसका मानस कमल प्रफुल्लित हो जाता है, विकसित हो जाता है।

इसी प्रकार 'दिव्य ज्योति' के चरित्र नायक की संयम वाटिका में, आगन्तुक मनुष्य की राग-द्वेष की तपतपाती हुई धूप से रक्षा हो सकेगी। शान्ति और समता का सुखदायी पवन क्रोध तथा अहं भाव से संतापित चित्त को सान्त्वना दे सकेगा। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के रंग-विरंगे सुरभि पुष्प अपनी महक से उसे महका देंगे। त्याग और वैराग्य के नीरव वातावरण में वह अपनी आत्मा को शान्त तथा निराकुल बना सकेगा।

(५)

कलाकारों की सभा में, जब एक वृद्ध अनुभवी कलाकार ने अपनी मुट्ठी बाँधे प्रवेश किया, तो अन्य सदस्य उसे रहस्य भरी दृष्टि से देखने लगे। आश्चर्य मे भर कर उन सदस्यों ने पूछा—'श्रीमान्! तुम्हारी मुट्ठी में क्या है?' उत्तर मिला कि इस मुट्ठी मे जो चाहो सब कुछ है। गज, अश्व, सागर और हिमालय। और जो चाहो, वह सब है। सब विस्मय में पड़ गए, कि यह कह क्या रहा है? उस वृद्ध अनुभवी कलाकार ने एक दावात में अपनी मुट्ठी में बन्द रंग की टिकिया घोली और तूलिका पकड़ सफेद कागज पर गज, अश्व, सागर, और हिमालय सब कुछ अंकित कर दिखलाया।

प्रस्तुत 'दिव्यज्योति' में क्या कुछ नहीं है ? इसके अध्ययन मनन और चिन्तन से सत्य शोधक मनुष्य त्याग-वैराग्य की गगन चुम्बी उड़ान भर सकता है, शान्ति समता और विश्व बन्धुता का मधुर संगीत सुन सकता है, अहिंसा, सत्य, और प्रेम वीणा की मनोमोहिनी झंकार का आनन्द ले सकता है। आवश्यकता है केवल जिज्ञासा वृत्ति की, सत्य शोधक दृष्टि की। अहिंसा की दावात में सत्य का रंग घोल कर, ब्रह्मचर्य की तूलिका से आत्मा-रूपी कागज पर सच्चा साधक अपना अभीष्ट प्राप्त कर सकता है। साधना से साध्य की सिद्धि क्यों न होगी ?

(६)

परम श्रद्धेय श्री ऋषिराजजी महाराज अपने युग के एक सफल आध्यात्मिक कलाकार थे। जिन्होंने अपनी साधना की छेणी से अनगढ़, असंस्कृत और अज्ञानी सहस्राधिक मनुष्यों को अपने घोर परिश्रम से संस्कृत और सुबोध बनाया। अहिंसा, सत्य और प्रेम के राज मार्ग पर स्वयं निर्भीकता, वीरता के साथ आगे बढ़े और अपने अनुयायियों को आगे बढ़ने के लिए सतत प्रेरणा, उत्साह और बल प्रदान करते रहे।

श्री ऋषिराजजी महाराज संयम सुमेरु थे। प्रलयंकर आँधी, भीषण तूफान और विनाशकारी अंधड़ क्या सुमेरु शैल राज को हिला सकते हैं, डिगा सकते है ? इसी प्रकार वासना की प्रलयंकर आँधी, भोग-विलास का तूफानी झंझावात तथा ससारी सुखों का वेगवान अंधड़ संयम सुमेरु ऋषिराज को तिल भर भी नहीं हटा सके, जरा भी विचलित नहीं कर सके ?

पूजनीय श्री ऋषिराज जी महाराज का जीवन वहती हुई गंगा के तुल्य स्वच्छ और निर्मल था। जिसमें जिज्ञासुवर्ग ने अपनी ज्ञान पिपासा को शान्त किया और इस ज्ञान गंगा में गोता लगाकर अपने हृदय के कालुष्य को धो डाला। यह ज्ञान गंगा जिस-जिस प्रदेश में होकर निकली, वह-वह प्रदेश अहिंसा, सत्य और प्रेम के धन-धान्य से समृद्ध वन गया।

सत्पुरुषों के जीवन चरित्र से जनता को प्रकाश मिलता है, जीवनोपयोगी शिक्षण मिलता है, जीवन संग्राम में जूझने के लिए वल और उत्साह भी मिलता है। जो मनुष्य अपने जीवन को पवित्र, प्रगतिशील तथा वहुजन भोग्य बनाना चाहता है। उसे चाहिए कि वह महापुरुषों के जीवन चरित्रों का गहरी दृष्टि से अध्ययन, मनन और चिन्तन करता हुआ उन महापुरुषों के गुणों को अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करता रहे—

"जीवन चरित्र महापुरुषों के,
हमें शिक्षण देते हैं।
हम भी अपना-अपना जीवन;
स्वच्छ रम्य कर सकते हैं।"

जो सज्जन इस दिव्य ज्योति का मन लगाकर अध्ययन, मनन तथा चिन्तन करेंगे, उनका जीवन अवश्यमेव दिव्य वनेगा। इसमें जरा भी सन्देह नहीं है।

"उपाध्याय अमरमुनि"

दिव्य-ज्योति

जीवन चरित्र

श्री ऋषिराजजी महाराज

श्री ऋषिराज जी महाराज
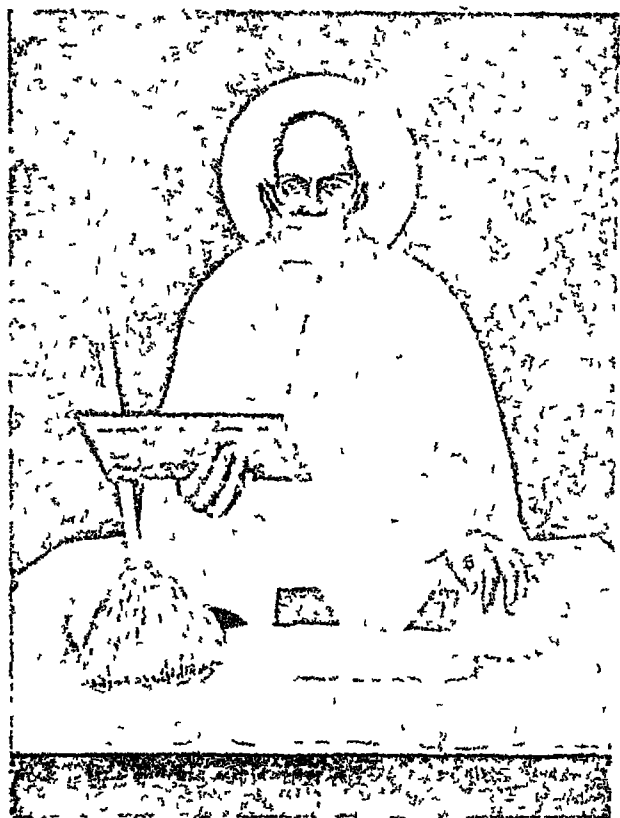
जन्म सं० १६०८	दीक्षा सं० १६७६	स्वर्गवास सं० १६६४
चै० शु० ८ मंगल	मं० कृ० ८ मंगल	पो० कृ० ७ शनि०
'मौरई' (आगरा)	'हिलवाडी' (मेरठ)	झिझाणा (मुजफ्फरनगर)

एक शब्द

सौभाग्य से लेखक को अपने बाल्यकाल से ही सन्त, महात्माओं का पवित्र संसर्ग प्राप्त रहा है। इसका विशेष कारण यह है कि लेखक के पूज्य पिता जी बड़े ही सन्त-सेवी थे। और उनकी कृपा से लेखक को भी सन्तों के चरणों में बैठने का बहुत अधिक सुअवसर प्राप्त होता रहता था। फिर सौभाग्य से लेखक को सन्तों की पुनीत जीवनियां पढ़ने की बड़ी रुचि रही और उनसे विशेष लाभ होता रहा। तत्पश्चात् जब से लेखक ने अपनी लेखनी से काम लेना आरम्भ किया, तब से उसे सन्तों की जीवनियां लिखने का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है।

लेखक को प्रायः सभी विभिन्न मतों के सन्त महात्माओं के दर्शन करने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ है। जो वास्तविक रूप में सन्त हैं वे तो किसी विशेष जाति या सम्प्रदाय की सम्पत्ति नहीं होते, प्रत्युत सर्व साधारण की, बल्कि सारे विश्व की सम्पत्ति होते हैं। यह सत्य है कि प्रत्येक मत के सन्तों में सच्चे त्यागी और तपस्वी महात्मा पाये जाते हैं किन्तु जहाँ तक लेखक का अनुभव है उसका विचार है कि जैन धर्म के अनुयायी साधु प्रायः त्याग और तपस्या में बहुत अग्रसर हैं। और लेखक समझता है कि जैन समाज का अस्तित्व ही

जैन साधुओं के पुण्याचरण के कारण है। जैन साहित्य में चरित्र-संगठन का मूल मन्त्र है :—

अहिंसा सत्य मस्तेय ब्रह्मचर्या परिग्रह !

अर्थात्—अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य का पालन और अपने पास कुछ भी धन माल न रखना, जैन साधु के यह पाँच महाव्रत हैं और जैन साधु उनका पालन पूर्ण-रूपेण करते हैं। अन्य मतों के बहुत से साधुओं ने अपनी कुक्रियाओं से सन्त समाज को लाञ्छित कर दिया है, क्योंकि आज के साधु केवल नाम धारी और वेष धारी रह गये हैं। उसका परिणाम यह है कि वह न केवल अपने ही समाज द्वारा किन्तु राजकीय सत्ता द्वारा भी तिरस्कृत तथा अपमानित हो रहे हैं। स्थान स्थान पर इनकी एक मात्र जीविका अर्थात् भिक्षा वृत्ति पर कानून द्वारा प्रतिबन्ध लगाये जा रहे हैं। यदि जैन साधुओं की तरह यह साधु भी त्याग - भाव तथा शुद्धाचरण से अपना जीवन व्यतीत करते होते तो इस प्रकार की कठिन परिस्थिति ही क्यों उत्पन्न होती और साधु समाज के प्रति इस प्रकार की उपेक्षा जनता की ओर से खड़ी न होती।

यह एक सत्यता है कि त्यागवीर एवं धर्मवीर चाहे वे इस युग के हों या अत्यन्त प्राचीन काल के आज भी आदर, श्रद्धा एव भक्ति भाव से स्मरण किये जाते हैं। उसका कारण यह है कि उन्हें सांसारिक प्रलोभन, स्त्री. पुत्र, इष्ट, मित्र, बन्धु बान्धव और धन, धाम, धरा का प्रबल आकर्षण अपने कर्त्तव्य मार्ग से विचलित नहीं कर सकते और धर्माराधन की ओर ही उनकी जीवन धारा निरन्तर अजस्र वेग से प्रवाहित रहती है। त्याग ही उनके जीवन का प्रधान अवलम्ब होता

है। जैसा कि पूर्व लिखा जा चुका है ऐसे सच्चे सन्त किसी एक समाज, जाति या देश के ही वन्दनीय नहीं हुआ करते किन्तु वे तो विश्व की विभूति हैं और आज नहीं तो कालान्तर में उन विभूतियों और उनके कार्यों को सारा संसार आदर एवं श्रद्धा से स्मरण करके अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करता ही रहेगा।

लेखक को जब से जैन सन्तों की शुभ संगति का सौभाग्य प्राप्त हुआ है वह उनके त्याग तथा उनके कठिन तपश्चरण से अतीव प्रभावित हुआ है। भगवान महावीर स्वामी की पावन जीवनी में सहिष्णुता, कठिन तपस्या, पूर्ण त्याग और उपकार भावना, क्षमा, शान्ति, सत्य पालन तथा अलौकिक आत्म-शक्ति और अलौकिक ज्ञान बल के जो मनोहर दृश्य दृष्टि-गोचर हुये उनसे तो बुद्धि ही चकित रह गई। अतएव लेखक ने भगवान महावीर स्वामी का एक विशाल जीवन चरित्र उर्दू भाषा में लिखा जिसे जनता ने बहुत ही पसन्द किया। लेखक को विदित हुआ है कि कई जैन सभाओं में इस पवित्र ग्रन्थ का कथा रूप में नित्य पाठ होता है। उसके पश्चात् त्याग मूर्ति मुनिवर श्री खजानचन्द जी महाराज और त्यागी मुनि श्री रामस्वरूप जी महाराज के जीवन चरित्र लिखे अब यह पवित्र जीवन श्री ऋषि राज जी महाराज का लिखा है और अभी एक दूसरे मुनिवर का जीवन भी लिखा जा रहा है।

ऐसे महात्माओं की गुणावलियों का स्मरण कर लेखक अपनी लेखनी को पवित्र कर रहा है। उनका पावन चरित्र अंकित करके लेखनी भी अपने आपको भाग्यशालिनी तथा गौरव गर्विता समझती है। भगवान से यही करबद्ध प्रार्थना है कि

श्री ऋषिराज जी महाराज सरीखी पुण्य आत्माएँ देश, जाति और समाज को मंगलमय, कर्त्तव्यमय एवं धर्ममय बनाने के लिये अधिकाधिक संख्या में भूमण्डल पर अवतीर्ण हों। ऐसा होने से ही पाप-ताप, रोग-शोक, दुःख दारिद्र, आधि व्याधियों से ग्रस्त मानव समाज का परम कल्याण हो सकता है और उसी से ही वह धर्म मार्ग पर चलने की आशा और प्रेरणा भी अधिकाधिक रूप में प्राप्त कर सकता है। इस मंगलमयी प्रेरणा से ही संसार में सार्वत्रिक शान्ति और सद्भावनाओं की पुण्य-मयी वृद्धि हो सकेगी। जब तक मनोभावनायें इस प्रकार की नहीं बनतीं तब तक संसार में अमर शान्ति का राज्य स्थपित नहीं हो सकेगा और जो अव्यवस्था और उथल-पुथल इस समय चल रही है वह दूर नहीं हो सकेगी। जो क्रूरता और कठोरता इस समय मानव समाज के हृदयों में आ गई है वह कंटक की नाईं उन मनों में चुभती रहेगी और सुख से वंचित रखेगी।

महापुरुषों के पुनीत जीवनों का स्वाध्याय करके और उनके चरण चिन्हों पर चल कर ही हमारी भावनायें ठीक हो सकती हैं और हमारा कल्याण हो सकता है।

'चावला'

प्रस्तावना

भारतीय इतिहास में ब्राह्मण और श्रमण संस्कृति नाम की दो अत्यन्त प्राचीन परम्पराएँ दृष्टिगोचर होती हैं। ब्राह्मण लोग वेदों को ही ईश्वरीय वाक्य मानते थे। इन्द्र, वरुण आदि वैदिक देवों की पूजा करते थे। यज्ञ में पशु बलि देकर उससे सिद्धि मानते थे। चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था स्वीकार कर अपनी जाति को सर्वोत्कृष्ट मानते थे तथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यासी इन चार आश्रमों को स्वीकार करते थे।

श्रमण लोग इन बातों का विरोध करते थे। वे सन्यास, आत्मचिन्तन, संयम, समभाव, तप, दान, आर्जव, अहिंसा सत्य वचन, आदि के ऊपर बल देते थे और आत्मशुद्धि को ही प्रधान मानते थे। श्रमण परम्परा में यज्ञ-याग आदि कर्म-काण्ड का स्थान आत्मविद्या को मिला था और वह क्षत्रियों की विद्या मानी जाती थी। उपनिषदों में कहा है कि ब्राह्मण लोग ब्रह्म को जानकर पुत्र की इच्छा, धन की इच्छा, और लौकिक इच्छाओं से निवृत होकर भिक्षावृत्ति का आचरण करते हैं। वैदिक परम्परा का प्रसिद्ध ग्रंथ महाभारत है वह श्रमण परम्परा के प्रभाव से पर्याप्त अंश में प्रभावित है। उसमें तप को प्रधान बताते हुए तप को समस्त धर्मों का मूल और सब पापों का नाश करने वाला कहा गया है। तुला-धार—जाजलि संवाद में कहा है कि सर्वभूतहित तथा इष्टा-निष्ट और राग-द्वेष का त्याग ही सच्चा धर्म है तथा अहिंसा सब धर्मों में श्रेष्ठ है (देखो शांति पर्व २६८-२७१)

याज्ञवल्क्य, जनक, पार्श्वनाथ आदि सत पुरुषों ने इसी श्रमण परम्परा में जन्म लिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल से चली आने वाली श्रमण संस्कृति की इन विचारधाराओं का मंथन भगवान् महावीर ने गम्भीरता पूर्वक किया था। उन्होंने देखा कि धर्म के नाम पर कितना आडम्बर रचा जा रहा है। यज्ञ-याग आदि को धर्म मान कर उन में मूक पशुओं की वलि दी जा रही है। देवी-देवताओं के नाम पर कितना अन्ध विश्वास फैला हुआ है तथा सबसे दयनीय दशा है स्त्री और शूद्रों की, जिन्हे वेदादि पठन-पाठन का अधिकार नहीं, तथा वेद्ध्वनि शूद्र तक पहुंच जाने पर उसके कानो में सीसा और लाख भर दिये जाते हैं, वेदोच्चारण करने पर उसकी जिह्वा काट ली जाती है। वेद मंत्र याद करने पर उसके शरीर के दो टुकड़े कर दिये जाते हैं। यह भी कहा गया कि शूद्रान्न भक्षण करने वाला द्विज, ग्राम में सूअर का जन्म लेता है। यहाँ तक कहा गया कि शूद्र दर्शन करने वाली आँखों की अपवित्रता दूर करने के लिए उन्हें धोना चाहिए। भगवान् महावीर ने देखा कि सर्वत्र अज्ञान ही अज्ञान फैला हुआ है और लोग अपनी विषय-वासना तृप्त करने के लिए, अपने सुख के लिए और अपने स्वाद के लिए निर्दोष जीवो का घात कर रहे हैं, उन्हें घोर कष्ट पहुँचा रहे है जिससे सर्वत्र दुःख ही दुःख फैला हुआ है। यह देखकर महावीर का कोमल हृदय द्रवित हो उठा। उन्होने दृढ़ निश्चय किया कि कुछ भी हो मुझे संसार का कल्याण करना है। उसमें दुख, अशान्ति और विरोध के स्थान में सुख, शान्ति और समताभाव फैलाना है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सर्व प्रथम आत्म-बल प्राप्त करना है।

इस लक्ष्य को सम्मुख रखते हुए भगवान् महावीर ने अत्यन्त कोमल वस्त्रों का त्याग किया, बहुमूल्य हार तथा अन्य आभरणों को उतार कर फेंक दिया; अत्यन्त स्वादिष्ट भोजनों को सदा के लिए तिलाञ्जली देदी। अपने मित्र छोड़े, बन्धु छोड़े, विपुल धन, स्वर्ण, रत्न, मणि, मुक्ता आदि सब कुछ छोडा और श्रमणत्व की दीक्षा ग्रहण की। भगवान ने निश्चय किया कि चाहे कितनी ही विघ्न बाधाएँ क्यों न आएँ तथा कितने ही घोर उपसर्ग और संकट क्यों न उपस्थित हों परन्तु मैं सबका धीरतापूर्वक सामना करता हुआ सबको शान्त भाव से, क्षमाभाव से सहन करूँगा और अपने नियमों में अटल रहूँगा, अपने निश्चय से विचलित न हूँगा।

भगवान् महावीर ने सर्व संहारकारिणी हिंसा के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई और बताया कि अहिंसा से ही मनुष्य सुखी बन सकता है इसी से संसार की शान्ति स्थिर रह सकती है। आपने इस सिद्धान्त की घोषणा की कि लोकहित के लिए तथा समाज के कल्याण के लिए "स्वयं जियो और दूसरो को जीने दो" अथवा "दूसरों से वैसाही व्यवहार करो जैसा तुम उनसे अपने लिए किए जाने की आशा रखते हो।" भगवान् ने कहा कि कल्याणकारी सिद्धान्तों को स्वीकार किए विना और इनका अनुकरण किए विना संसार में कभी शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती और न जीव सुखी हो सकते हैं।

भगवान् महावीर ने आत्म-कल्याण के लिए आत्मबल की प्राप्ति आवश्यक कही है। आत्मबल की उपलब्धि उन्होंने अहिंसा, संयम और तप के द्वारा मानी है। तप और त्याग की भावना को भगवान् महावीर ने अपने जीवन में प्रत्यक्ष रूप

में डालकर बताया था। उनकी तपश्चर्या वास्तव में अद्‌भुत थी जिसे देखकर बड़े-बड़े तपस्वी डोल जाते थे। तिसपर भी उनका तप किसी क्षुद्र स्वार्थ भावना से नहीं था अपितु उसमें स्व और पर कल्याण की भावना अन्तर्निहित थी।

अपने उद्देश्य तक पहुंचने में कितने ही कष्ट क्यों न आवें परन्तु तपस्वी जन अपने मार्ग में सदा अटल रहते हैं। कोई उनकी निन्दा करे या उनकी स्तुति करें तो भी उसमें वे सम-भाव धारण करते हैं। सत्यता भी यही है कि कर्तव्य पथ पर डट कर खड़े रहने से ही मनुष्य कठिन और दुःसह कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर सकता है अन्यथा जहां वह तनिक भी ढीला पड़ा कि ऊपर से एकदम नीचे पहुंच जाता है। इसीलिए भगवान् वर्द्धमान् ने कहा है कि "हे श्रमणो! पहले अपने साथ युद्ध करो, पहले अपनी आत्म शुद्धि करो, बाहर की शुद्धि करने से कुछ मिलने वाला नहीं।" उन्होंने यह भी कहा कि तप और त्याग का मार्ग शूरों का मार्ग है, यह लोहे के चने चबाने के समान कठोर, बालू का ग्रास भक्षण करने के समान शुष्क, तीव्रधारा वाली नदी के प्रवाह के विरुद्ध तैरने के समान कठिन है, समुद्र को भुजाओं द्वारा पार करने के समान दुस्तर तथा असिधारा पर चलने के समान भयङ्कर है।

भगवान् ने जन्म से जाति का विरोध बताया और कहा कि जब तक हम ऊँच-नीच का, छोटे-बड़े का, धनवान् निर्धन का भाव धारण करते हैं, हम धर्मात्मा नहीं कहे जा सकते। भगवान् के उपदेशानुसार समस्त जीव एक समान हैं। भगवान् ने अपने प्रवचन में कहा है कि सच्चा ब्राह्मण वह है जिस ने राग, द्वेष और भय पर विजय प्राप्त की है, जो अपनी इन्द्रियों पर निग्रह रखता है, कभी मिथ्या भाषण नहीं करता तथा जो सर्व

प्राणियों के हित में रत रहता है। भगवान् ने इस सिद्धान्त को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिए फरमाया है कि केवल सिर मुंडा लेने से कोई श्रमण नहीं कहा जाता, ओंकार का जाप करने से ब्राह्मण नहीं हो सकता, वनों में वास करने से कोई मुनि नहीं बन जाता, तथा कुश-वस्त्र धारण करने से कोई तपस्वी नहीं बन जाता; प्रत्युत वास्तव में समता धारण करने से श्रमण बनता है, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण होता है, ज्ञान से मुनि होता है और तप से तपस्वी होता है। इसी सिद्धान्त की पुष्टि में भगवान् ने स्पष्ट रूप से कह दिया कि मनुष्य अपने अपने कर्मों से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहा जाता है, किसी जाति विशेष या वंश विशेष में जन्म लेने से नहीं। भगवान् महावीर ने केवल इस सिद्धान्त को मौखिक ही नहीं रखा किन्तु उसे कार्य रूप में परिणत किया, क्यों कि ब्राह्मण और क्षत्रियों के अतिरिक्त भगवान् के अनुयायी अनेक कृषक, कुम्हार, लुहार, जुलाहे, माली आदि कर्मकर लोग भी थे। भगवान् महावीर की शरण में आकर अनेक म्लेच्छ, चोर, डाकू, मच्छी मार, वेश्या तथा चांडाल पुत्रों की प्रकृति परिवर्तित हो गई। भगवान् स्वयं नगर के बाहर लुहार, बढ़ई, जुलाहे, कुम्हार आदि की शालाओं में ठहरते थे और उन्हें धर्म के स्वरूप का वास्तविक परिचय देकर पवित्र संयम धर्म का प्रचार करते थे। भगवान् का बताया हुआ मार्ग सब के लिए खुला था। उनका कथित धर्म जनता का धर्म था और उसमें कोई भी आकर धर्म सिद्धान्त श्रवण कर कल्याण-पथ का पथिक बन सकता था अर्थात् कोई भी इस मार्ग को ग्रहण करके दीक्षित हो सकता था।

तत्कालीन लोग पतित कहकर जिनका अनादर करते थे, जिन्हें धर्म-श्रवण का अनधिकारी मानते थे, जिन्हें उनके

व्यवसाय-साधनों के कारण धर्म-पालन की बाधा थी, ऐसे पतितों, पीड़ितों और घृणितों को ऊंचे उठाकर भगवान् ने निःसंदेह जन समाज का महान् कल्याण किया। धनिकों और समृद्धिशालियों को भगवान् का उपदेश था कि ऐ सांसारिक मनुष्यो! काम भोगों से, भोग विलास से कभी तृप्ति नहीं हो सकती। अतएव अपनी आवश्यकताओं को कम करो, अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण रखो और अपने समस्त धन-धान्य का परिमाण कर दूसरों को सुख पहुंचाओ।

भला जब भगवान् के प्रवचन में इतनी उदारता थी, प्राणी मात्र के दुःखों को दूर करने की इतनी दृढ़ वृत्ति थी तो फिर उसमें जाति-पाँति का, छोटे बड़े का और धनी-निर्धन का भेद हो ही कैसे सकता है?

भगवान् का सीधा सादा उपदेश था कि आत्म दमन करो, अपने आप को पहचानो और स्व-पर-कल्याण करने के निमित तप और त्यागमय जीवन बिताओ। किसी जीव को दुःख न दो, झूठ मत बोलो, प्रतिज्ञा का पालन करो, पर वस्तु का अपहरण न करो, आवश्यकता से अधिक वस्तु पर अपना अधिकार मत रखो, पर-स्त्री को माता भगिनी के तुल्य समझो तथा संपत्ति को बटोर कर मत रक्खो, अपितु दूसरों के साथ बाँट कर उसे प्रयोग में लाओ।

अपने सिद्धांतों का प्रचार करने के लिए अर्थात् उन्हें जन समाज तक पहुचाने के लिए भगवान् ने साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका इस प्रकार चतुर्विध संघ की स्थापना की थी।

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व के अवैज्ञानिक युग में सयम मार्ग के अनुयायी श्रमणों को क्या-क्या कष्ट सहन करने पड़ते

थे, आज उसकी कल्पना करना भी कठिन है। सबसे प्रथम उन्हें पर्यटन का ही महान् कष्ट था। न उस समय सड़कें थीं और न कोई अन्य साधन, मार्ग में बड़े-बड़े भयानक जङ्गल पड़ते थे, जो हिन्सक जन्तुओं से परिपूर्ण थे! कहीं बड़े-बड़े पर्वतों को लांघना पड़ता था, तो कहीं नदियों को पार करना पड़ता था। साधु लोग प्रायः समूह रूप में यात्रा करते थे, चोर डाकुओं के उपद्रव उस समय की एक साधारण परिपाटी थी। राजाओं की ओर से भी किसी प्रकार की सुविधा नहीं होती थी अपितु उनके परस्पर युद्ध होने में साधुओं को बड़े कष्ट सहन करने पड़ते थे। दुष्काल की भयङ्करता और भी महान् थी। इस प्रकार अनेकानेक सङ्कटों के कारण साधुओं को निर्दोष आहार का मिलना अति दुष्कर होता था।

इसमें सन्देह नहीं कि भिक्षु संघ की स्थापना कर सचमुच भगवान् महावीर ने जन समाज का महान् हित किया था। यह भिक्षु लोग आर्य अनार्य देशों में दूर-दूर तक परिभ्रमण कर श्रमण धर्म का प्रचार करते थे। भगवान् ने बार-बार इस साधु संघ को यही उपदेश दिया था कि इन्द्रिय निग्रह करो, सोते, उठते, बैठते, सदा जागरूक रहो और एक क्षणभर भी प्रमाद न करो; न जाने कब कौनसा प्रलोभन आकर तुम्हे लक्ष्यच्युत करदे, अतएव जैसे अपने आप को आपत्ति से बचाने के लिए कछुआ अपने अङ्ग प्रत्यंगो को अपनी खोपड़ी में छिपा लेता है उसी प्रकार अपने मन पर नियंत्रण रक्खो और अपनी चञ्चल मनोवृत्तियों को इधर-उधर जाने से रोको।

भगवान् महावीर के बताए हुए इस श्रमण धर्म को धारण कर लाखों प्राणी आत्म कल्याण के द्वारा जन्म-मरण के चक्कर से बाहर निकल गये। यह श्रमण धर्म उस समय से अब तक

पहुचाया हो, कभी किसी न्यायालय में गया हो, कभी किसी को साक्षी दी हो, कभी किसी मादक द्रव्य का सेवन किया हो, किसी से स्वादिष्ट भोजन की याचना की हो, किसी के घर पर भर पेट भोजन खाया हो। इसके विपरीत भोजन मांगने पर भी यदि अपनी उदर-दरी को भरने के लिए नियमानुसार कुछ नहीं मिलता तो वह भूखा रह जाता है। जैन साधु आयु पर्यंत पैदल यात्रा करता है। सिर और पैर से नंगा रहता है।

ऐसा नहीं कि जैन साधु संसार से भाग कर कंदराओं में जा छुपता है प्रत्युत वह संसार-हित के लिए, संसार सेवा के लिए संसार में रहता हुआ, सब भोग पदार्थों को देखता हुआ सब प्रकार के प्रलोभनों के समक्ष रहता हुआ उनके वशीभूत नहीं होता। उसका सारा जीवन परहित की पुण्य कामना और तदनुसार कर्तव्यमय ही रहता है। ऐसे ही त्याग, तपस्या और वैराग्य भावना से परिपूर्ण जैन साधुओं में से एक का यह विमल जीवन चरित्र है जिनका शुभ नाम श्री श्री १००८ शान्त मूर्ति सरल स्वभावी पंडित राज चारित्र चूड़ामणि परम पूज्य श्री ऋषिराजजी महाराज हैं। उनमें उपर्युक्त सब गुण विद्यमान थे जैसा कि अगले पृष्ठों के पाठ से ज्ञात होगा। आशा है पाठक गण इस महापुरुष के परम पावन चरित्र के स्वाध्याय से अपने जीवन को उच्च बनाने का प्रयत्न करेंगे।

—लेखक

जन्म तथा माता पिता

वह भूमि कितनी सुहावनी होती है जहाँ केसर की क्यारियाँ लगी हों। वह स्थल कितना सुन्दर होता है जहाँ सुगन्धि युक्त पुष्प खिल रहे हों। वह स्थान कितना मनोहर और लुभावना होता है जहाँ पर फलों से लदे हुए वृक्ष और पौधे हो। और तो और वह जगल कितना प्यारा होता है जिसमें सौरभयुक्त चन्दन के वृक्ष उगे हुए हों। एवं वह भूमि कितनी पुण्यवान होती है जहाँ पर महापुरुषो का प्रादुर्भाव हो, वह देश कितना भाग्यशाली होता है जिसमें किसी सत महात्मा का अवतरण हो। इसी प्रकार का वह पावन स्थल था जहाँ पर पण्डितराज चारित्र चूड़ामणि श्री ऋषिराजजी महाराज का शुभ जन्म हुआ। वह पुण्य स्थान संयुक्त प्रान्त के जिला आगरा में सौरई नाम का ग्राम था। वह देश वैसे भी वड़ा सुहावना है, वहाँ की भूमि उपजाऊ है। किन्तु श्री ऋषिराजजी महाराज के वहाँ पर जन्म लेने से तो वह और भी पवित्र बन गई है।

उस ग्राम में आपका शुभ जन्म राजपूत क्षत्रिय कुल के एक प्रसिद्ध घराने में विक्रम सम्वत १६०८ के चैत्र शुक्ला अष्टमी मगलवार के दिन शुभ घड़ी और शुभ मुहूर्त में हुआ। आपके पूज्य पिताजी का शुभ नाम श्री धनपतसिहजी था जो अपने नाम के सदृष बड़े धनवान थे और आपकी प्रातः स्मरणीय पूज्य माताजी का नाम श्रीमती अयोध्यादेवी था। आपके ज्येष्ठ भ्राता का नाम श्री रणधीरसिंहजी था। अतः आपका कुल पवित्र आत्माओं के प्रादुर्भाव होने के कारण बड़ा विख्यात है। इसी

कुल में महासती श्री जियोजी तथा परम विदुषी पण्डिता शिरोमणि महासती श्री पार्वती जी की निर्मल आत्माओं का आगमन हुआ था कि जिन्होंने चारित्र्य प्राप्त करके इस कुल के नाम को उज्ज्वल किया और इसकी ख्याति को चार चांद लगाये। इन दोनों महासतियों की दीक्षा जन्म-स्थान जिला सुजानगढ़ नगर में श्री कस्तूरचन्दजी महाराज के अधीन में महासती श्री हीराकंवर जी के कर कमलों द्वारा विक्रम सम्वत् १९७४ के पौष शुक्ला द्वितीया के दिन हुई थी। आप की समाज की महत्ता को जितना इन दोनों सतियों ने अपने संयम तथा त्याग के द्वारा ऊंचा किया है, वह जैन इतिहास में एक सुन्दर स्थान रखता है। ये दोनों महासतियां हमारे चरित्र नायक की मौसी पड़ती थीं। और इन दोनों महासतियों के सम्पर्क से ही श्री ऋषिराजजी महाराज की वैराग्य भावना तीव्र हुई थी। महासती श्री जियोजी और महासती श्री पार्वती जी के विमल जीवन का आप पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। इन महासतियों के दिव्य जीवन से जो परिचित हैं वे ही उनकी महत्ता को ठीक रूप से समझ सकते हैं। वैसे तो बाल्यकाल से ही आपका मन सांसारिक विषय वासनाओं से विरक्त रहता था। आपको सांसारिक भोग नीरस प्रतीत होते थे किन्तु उन उपरोक्त महासतियों के पावन संसर्ग से आपके हृदय में संसार की असारता पूर्णतया दृढ़ रूप से निश्चय का रूप धारण कर गई थी। वैराग्य का बीज तो पूर्व जन्म के पुण्य फल से ही उनके विमल हृदय में स्थित था और वह अंकुर रूप में प्रकट हो चुका था किन्तु उन महासतियों के पवित्र तथा मनोहर वचनामृत से सींचा जाकर वह शीघ्रातिशीघ्र उन्नत होकर एक फलदार पौधा बन गया।

श्री ऋषिराजजी महाराज के पूज्य पिताजी ने उनकी एक जन्म कुंडली भी बनवाई थी, जो इस प्रकार से थी—

जन्म लग्न
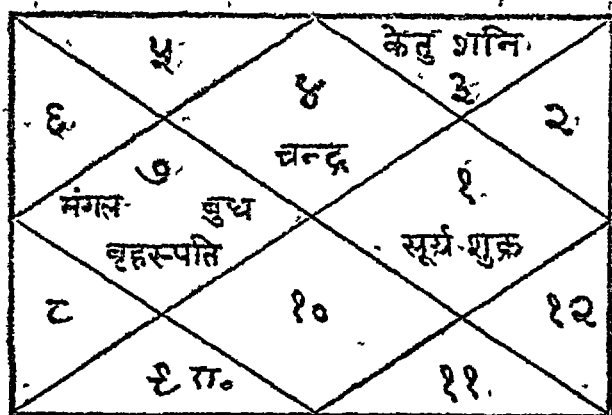
आप के पुनीत जन्म का शुभ लग्न कर्क था, नक्षत्र पुष्य था योग धृति था करण तब था।

माता पिता ने आपका नाम लेखराज रक्खा था। वह नाम ठीक ही था। लेख का एक अर्थ प्रारब्ध भी होता है और राज का अर्थ तो उच्च या श्रेष्ठ होता ही है अर्थात् आप उच्च तथा उत्कृष्ट प्रारब्ध के स्वामी थे। इसीलिए तो आप संसार के पूज्य बने। करोड़ों मनुष्य कीड़े मकोड़ों के समान अपना जीवन व्यतीत करके इस संसार से चले जाते हैं। कोई जानता भी नहीं कि कौन आया, कब आया और कहाँ से आया और कब चला गया किन्तु यह उच्च लेखों वाले श्री ऋषिराज जी महाराज अपना नाम अमर कर के चले गये। स्वयं परम पद को प्राप्त हुए और अनेक जीवों

को सन्मार्ग पर लगाकर उनका कल्याण कर गये। इस से बढ़ कर उत्तम प्रारब्ध और क्या हो सकती है ?

ऐ संसारी जीवो। आप भी इस तथ्य को समझो। कीट पतंगो के तुल्य अपने इस जीवन को नष्ट करके ही न चले जाओ आपको यह मनुष्य भव न जाने कितने जन्मों के पश्चात् महान पुण्योदय से प्राप्त हुआ है इसकी महत्ता को समझो। श्री ऋषिराज जी महाराज के चरण चिन्हों पर चल कर इसे शीघ्रातिशीघ्र सार्थक बनाओ। अन्यथा समय निकल जाने पर पछताने के अतिरिक्त कुछ न हो सकेगा और फिर वही बात होगी कि "अब पछताये होत क्या जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत।"

हम मानव बुद्धि-शील प्राणी हैं हमें बुद्धि का सदुपयोग करना चाहिये। अपने हिताहित को विचार कर ऐसी क्रियाओं में प्रवृत्त होना चाहिये जिससे हमें समय निकल जाने पर हाथ न मलने पड़ें। शास्त्र और महापुरुष हमें पुकार पुकार कर कह रहे हैं कि समय एक एक क्षण करके निकला जा रहा है जो क्षण चला जाता है वह लौटाया नहीं, जा सकता इसलिये सँभलो। प्रमाद का परित्याग करके कर्त्तव्य शील बन जाओ।

शिशु काल

बाल्य काल में माता पिता ने बड़े लाड़ प्यार से आपका पालन पोषण किया। क्योंकि आप विशेष रूप से सरल स्वभावी, आज्ञाकारी तथा सुशील बालक थे, इसलिये माता पिता का आप पर विशेष प्रेम तथा स्नेह भाव था। १५-१६ वर्ष की आयु तक आपका आचार व्यवहार ऐसा उत्तम और पवित्र था कि मानो अभी वे दूध पीते शिशु हैं उनके मन का पटल नितान्त शुद्ध और निर्दोष था ऐसी दशा में वे माता पिता के अत्यन्त स्नेह के पात्र क्यों न बनते। इसी अवस्था में उन्होंने कुछ विद्या प्राप्त की और अपना पैतृक धन्धा चलाने के लिए अच्छे योग्य बन गये, किन्तु जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है बाल्य पन से ही आपकी रुचि संसारी भोग विलासों की ओर नहीं थी। सांसारिक धन्धे उन्हें भयानक फन्दे प्रतीत होते थे फिर माह सती श्री जियोजी तथा महा सती श्री पार्वती जी के पवित्र संग से आपके मन में वैराग्य भावना विशेष रूप से जागृत हो गई थी। तत्पश्चात् एक और ऐसी घटना घटी जिससे उनको संसार की क्षणभंगुरता स्पष्ट रूप से प्रतीत होने लगी। अर्थात् आपकी पूज्य माताजी श्रीमता अजोध्या देवी जी का स्वर्गवास हो गया। प्रथम तो आपके हृदय में मातृ भक्ति विशेष थी। अधिकांश में आप वैरागी थे दूसरे पूज्य माता जी का भी उनके ऊपर असाधारण प्रेम था। इसलिए पूज्य माता जी के एकाएक इस असार ससार से उठ जाने से उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा कि यह संसार तो एक स्वप्नवत है और इसमें सारता नाम को भी नहीं। जो थोड़ी

बहुत उनकी लग्न संसारी धंधों में थी वह भी जाती रही। जैसे कि कहा है—

रे मन एह साची जीअ धारि।
सकल जगत है जैसे सुपना विनसत लगत न वारि[१] ॥१॥
वारू[२] भीत[३] बनाई रचि पचि रहति नहीं दिन चारि।
तैसे ही इह सुख माया के उरझिउ[४] कहा गँवारि[५] ॥
अजहुँ समझु कुछ बिगरिओ नाहिन भजले नाम मुरारि।
कहु नानक निज मतु साधन कउ, भाखिउ[६] तोहि पुकारि ॥
रे मन एह साची जीअ धारि ॥

अस्तु, महाराज श्री को भान हुआ कि ससार में कोई किसी का सच्चा मित्र नहीं है सब अपने अपने स्वार्थ से बँधे हुए हैं जैसे की एक कवि ने कहा है:—

इह जग मीत न देखउ कोई।
सकल जगत, अपनौ सुख लागिउ दुख में संग न होइ ॥
दारा[७] मीत[८] पूत सनबन्धी, सगरे[९] धन सिउ लागे।
जब ही निरधन देखिउ नर कउ सग छाड़ि सभ भागे ॥
कहउ कहा यिआ मन बउरे कउ, इन सिउ नेहु[१०] लगाइउ।
दीना नाथ सगल भय भंजन जसु[११] ताको बिसराइउ ॥
सुआन[१२] पूछ[१३] जिउ भइओन सूधउ[१४] बहुत जतन मैं कीनउ।
नानक लाज बिरद की राखहु नाम तुहारउ[१५] लीनउ[१६] ॥

१—देर, २—रेत, ३—दीवार, ४—फँसा हुआ, ५—मूर्ख, ६—कहा, ७—स्त्री, ८—मित्र, ९—सभी, १०—प्रीति, ११—महिमा, १२—कुत्ते की, १३—दुम, १४—सीधा, १५—आपका, १६—लिया।

वैराग्य भावना

यह एक नियम है कि जिस जीव को महापुरुष बनना होता है उसमें बाल्यकाल से ही विशेष गुणों का प्रादुर्भाव होने लगता है। उसकी प्रकृति भी अन्य बालकों से विलक्षण होती है, और शिशुकाल से ही वह धीरता और गम्भीरता का प्रमाण देने लगता है। हमारे चरित्र नायक भी इसी श्रेणी में से थे। छोटी अवस्था में ही उनके मुख पर शान्ति और धीरता के चिह्न विद्यमान थे।

आप को अपने माता-पिता के शुद्धाचरण और धर्म प्रेम के संस्कार भी प्राप्त हुए थे। फिर सौभाग्य से उनके ग्राम में जैन साधुओं का आगमन हुआ। अपने नियमानुसार यह महात्मागण एक स्थान से दूसरे स्थान को विहार करते हुए भावुक एवं धार्मिक जनता को अपने उपदेशामृत से तृप्त किया करते थे, उनका शुभ नाम त्यागमूर्ती श्री कंवरसेन जी महाराज था। उक्त महाराज श्री की वाणी बड़ी मधुर, ओजस्वी और प्रभावोत्पादक थी। ऐसे सन्त प्रवर की पवित्र वाणी सुनने का सौभाग्य बालक श्री लेखराजजी को भी प्राप्त हुआ था। उपदेश के रूप में तेजपुंज साधुशिरोमणि के मुख से शास्त्र ज्ञान की परम पावन मंदाकिनी प्रवाहित हो रही थी। उपदेश के मध्य में महाराज श्री के श्री मुख से मनुष्यभव की सफलता पर उपदेश होने लगा। उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ६ गाथा १२ के इस परम मंगल सूत्र का आप ने उच्चारण किया—

जे केई सरीरे सत्ता, वण्णे रूवेय सव्वसो।
मणसा कायवक्केणं, सव्वेते दुक्ख सम्भवा॥

अर्थात् जो जीव मन, वचन और काया के द्वारा सर्व प्रकार से शरीर में और शरीर के वर्ण और रूप में आसक्त हैं वे सब

दुःखो के भाजन है। इसकी व्याख्या करते हुए श्री कंवरसेन जी महाराज ने कहा कि—जो जीव शरीर में अर्थात् उसके अवयवों और गुणों में अधिक आसक्त है उनको सबसे अधिक दुःख उठाना पडता है, क्योकि उनको औरों की अपेक्षा इस शरीर की रक्षा और पालन-पोषण में अधिक व्यग्र रहना पड़ता है। वे इसको बलवान् तथा पुष्ट बनाने में रात दिन चिन्तित रहते हैं। शरीर के ही रूप और लावण्य आदि की ओर मन, वचन, काया से लगे रहते हैं और उसके परिणाम स्वरूप धर्म साधना और आत्मा के सच्चे स्वरूप को समझने का कुछ भी प्रयत्न नही करते। इसलिए दुःख उनके लिये अवश्यम्भावी है। अतः मुमुक्षु जीवों को उचित है कि वह हाड़, मांस, मज्जा आदि घृणित वस्तुओ से बने हुए इस नश्वर शरीर पर से मोह हटा कर अपने मन, वचन, काया को आत्मा की शोध में लगावे। अपने कर्त्तव्यों को निभाते हुए मनुष्य जन्म को सफल बनावे।

इसी प्रकार के और उपदेश भी श्री महाराज के मुखारविन्द से होते रहे, जिनमें उन्होने संसार की असारता, और संसारी भोगों की क्षण भगुरता तथा उनके दुःख परिणामो पर प्रकाश डालते रहे।

जिनके हृदय में धर्म और प्यार की भावनाएँ गुप्त रूप से प्रवाहित हो रही हों, उनके मन मानस पर इस प्रकार के उपदेशों का प्रभाव हो जाना अनिवार्य होता है। क्या हम नित्य प्रति देखते नहीं कि कठोर चट्टानो के भीतर भी यदि निर्मल वारि-धारा प्रच्छन्न रूप से प्रवाहित होती रहती है तो एक न एक समय एक ही धक्के से वह धारा चट्टान को तोड़ फोड कर उसके ऊपर प्रवाहित होने लगती है। यह बात तो कठोर चट्टानों की रही किन्तु जहाँ पर टीला ही कोमल मिट्टी का हो उसे तो जलधारा सुगमता से अपने आधीन कर लेती है। यही

दशा भावुक मनुष्यों की अन्तर्निहित सद् वृत्तियों की भी होती है। घटनाओं का एक स्वल्प सा आघात या उपदेशों का अणुमात्र सा प्रभाव भी उनकी छिपी हुई भावनाओं को प्रकट कर देता है। वह वाणी की उस दिव्य धारा में अपने चिर सञ्चित भावों को अवगाहन करने लग जाते हैं। जिस उद्देश्य के लिए वह संसार में अवतीर्ण होते हैं, उस का संकेत मिलते ही आस पास के मायामय आवरण को भेदन करके वह अपने गन्तव्य अर्थात् इष्ट मार्ग की ओर गमन करने लगते हैं।

इसी नियम के अनुसार हमारे चरित्र नायक श्री लेखराज जी—जो कि बचपन से ही बहुत भावुक तथा कोमल प्रवृत्तियों के थे—इन उपदेशों से प्रभावित हो गये। वह सोचने लगे कि—वास्तव में शरीर रोगों का आगार है। यह अस्थि, चर्म, मल, मूत्र, मांस और मज्जा से निर्मित है। इस मानव शरीर में अनेक प्रकार के विकारों और अन्त में मृत्यु की सदैव सम्भावना बनी रहती है। इस प्रकार जन्म लेने वाले प्रत्येक प्राणी को चाहे वह रंक हो या राव मृत्यु की गोद में सोना अनिवार्य है। लाख प्रयत्न करने पर भी मानव मृत्यु के कठोर पाश से छुटकारा नहीं पा सकता। ऐसा विचार कर बालक श्री लेखराज जी के हृदय से माया का आवरण उठने लगा और त्याग, वैराग्य और धर्म की पावन त्रिवेणी का प्रादुर्भाव होने लगा—अर्थात् इस बालक के हृदय पर भी वहाँ विराजित तेजस्वी सन्त प्रवर की वाणी का वैराग्यमय प्रभाव हुआ। उस समय अवस्था तो अभी आप की कोमल ही थी तथापि साधुवाणी की यथार्थता को आपने ग्रहण किया। आपने इस सत्य को हृदयङ्गम कर लिया कि संसार तो दुःखों का आगार है। सांसारिक पदार्थों की अनित्यता उन्हें स्पष्ट दिखाई देने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि सांसारिक

दीक्षा महोत्सव

इससे पहले प्रकरण में पाठक देख चुके हैं कि किस प्रकार से १५ वर्ष के कोमल आयु के बालक के हृदय में एक मुनिवर के पावन उपदेशों से तीव्र वैराग्य भावना दृढ़ता से स्थिर हो गई। अब तो एक क्षण के लिये भी सांसारिक धन्धों में लिप्त रहना उनके लिये दुःसह हो गया। इतनी छोटी-सी वयवाले बालक की इस असाधारण वैराग्य भावना को देख कर सभी चकित तथा स्तम्भित रह गये। बन्धुजनों ने आपको बहुत-सी संसारी वस्तुओं का प्रलोभन दिलाया, जब उन्हें ज्ञात हुआ कि श्री लेखराज जी अपने सब सांसारिक नाते तोड़ने वाले हैं। किन्तु क्या कमल एक बार पंक से निकल कर फिर उसमें लिप्त हो सकता है ? कदापि नहीं। ऐसे ही आपका मन भी जो संसार से पूर्णतया उदासीन हो गया था भला वह फिर इसमें कैसे फंस सकता था। बान्धव जनों ने उनको आकुल वाणी एवं स्नेह गद्‌गद कण्ठ से कहा कि तुम तो हमारे प्राण प्यारे हो, तुम घर में रह कर ही अपने नाम की कीर्ति उज्ज्वल कर सकते हो। दीक्षा, संयम धारण या त्याग की चर्चा छोड़ो, घर पर रह कर भी तुम विद्याध्ययन करके सन्ध्या सामायिक पुण्य-दान और परोपकार द्वारा अपना कल्याण कर सकते हो। इस प्रकार की और भी अनेक बातें कह कर मित्रवर्ग और बन्धुवर्ग ने बालक श्री लेखराज जी को प्रबोध दिया और उसको संयम धारण से विरत करने की चेष्टा पूर्ण रूप से की। किन्तु इस चेष्टा में उन्हें नितान्त असफलता हुई। उनके मन में जो संयम दीक्षा लेने की धुन लगी थी वह न लौटने की सीमा तक पहुंच

चुकी थी। बन्धुओं के विनय भरे, आग्रह पूर्वक उपदेश आपको अपने मुख्य ध्येय अर्थात् दीक्षा ग्रहण से विमुख नहीं कर सके और फिर सौभाग्य से आपने दीक्षा ग्रहण करने के लिये सच्चे गुरु को भी ढूँढ लिया था। गुरु ज्ञानवान थे और स्वार्थ तथा किसी भी और झूठी अभिलाषा इत्यादि से बहुत ऊँचे उठ गये थे। वे उन गुरुजनों में नहीं थे जो स्वार्थ के वशीभूत होकर चेलों की वृद्धि करके प्रसन्न हो उठते हैं। वे तो शास्त्र में पारङ्गत, विद्वान्, शान्त स्वभावी, शिष्ट एवं मधुर भाषी महानुभाव थे। जब वह शास्त्र चर्चा करते तो ऐसा प्रतीत होता था मानो ज्ञान की गंगा जनता के सामने प्रवाहित कर रहे हैं। श्रोता लोग उस ज्ञान गंगा में अपने आपको विभोर कर लेते थे। ऐसे ही गुरुवर से दीक्षा ग्रहण करने के लिये श्री लेखराज जी ने निश्चय कर लिया था।

गुरुवर भी भली भाँति जान चुके थे कि वैरागी श्री लेख-राज जी की त्याग भावना पवित्र तथा अकृत्रिम है। इसीलिए उन्होंने बड़े प्रेम से इस बालक को दो तीन वर्ष तक अभ्यास तथा विद्याध्ययन कराया और उन्हें दीक्षा प्राप्त करने के योग्य बना दिया था अस्तु गुरुदेव और वैरागी जी विहार करते हुए सं० १६२६ में जिला मेरठ के हिलवाड़ी ग्राम में पधारे जो कि बड़ौत के पास है। वहाँ के भव्य श्रावकों ने जब वैरागी श्री लेख राज जी की पवित्रभावनाओं और उस के संयम पूर्ण रहन सहन को देखा तो वे बहुत प्रभावित हो गये। श्री लेखराज जी के सद् गुणों ने उनके हृदय पटल पर विशेष प्रभाव डाला और इसके फलस्वरूप उन्होंने महाराज श्री कँवरसेन जी की सेवा में सविनय प्रार्थना की कि वैरागी श्री लेखराज जी को हिलवाड़ी ग्राम में ही दीक्षा दी जाए। उधर वैरागी जी की अपनी तं व्र अभिलाषा

थी और इधर भव्य श्रावकों की ओर से आग्रह पूर्वक प्रार्थना हुई थी, इन दोनों की सच्ची श्रद्धा और भक्ति को अवलोकन कर के मुनिवर महाराज श्री कवरसेन जी ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार कर लिया।

वैरागी श्री लेखराज जी ने जब अपने गुरुदेव से नम्रता पूर्वक दीक्षा दिये जाने के निमित्त प्रार्थना की तब कहा था "हे षट्काय के रक्षक। आप ससार के उग्र दुःखों से हमें छुड़ाओ और हमारे कर्मरूपा इन बन्धनों का छेदन करो, आप स्वय तिर सकते हैं तथा औरों को तारने में समर्थ हैं। मेरी अन्तः करण से यह विज्ञप्ति है कि आप मुझे अपने कर कमलों से दीक्षित कीजिए। नि सन्देह यह साधुवृत्ति अतीव कठिन है परन्तु आप जैसे विद्यावारिधि, शान्त मुद्रा मुनिराजो के सहाय से यह कार्य दुःसाध्य होने पर भी सुगम हो जाएगा। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप की कृपा से मैं इस में सफलता प्राप्त करूंगा।"

गुरुदेव तो प्रथम ही युवक श्री लेखराजजी की वैराग्य भावना से परिचित थे, वह तो हार्दिक रूप से इस बात के आकांक्षी थे कि युवक यथा सम्भव शीघ्र ही दीक्षित हो जाए और धार्मिक आचरण तथा उपदेशों से जनसमाज को कल्याणी जिन वाणी का महान् सन्देश सुनावे। गुरु और शिष्य दोनों की मंगलमय आशा-पूर्ति का योग अन्ततः आया और मुहूर्त सिद्ध हो जाने पर मंगसिर वदी अष्टमी मंगलवार के दिन सं० १६२६ को हिल-वाडी ग्राम जिला मेरठ (उ० प्र०) में दीक्षा दान और दीक्षा ग्रहण का यह मंगलमय महोत्सव सानन्द सम्पन्न हुआ। उस शुभ उत्सव को देखने के लिये सहस्रों नरनारी एकत्रित हुए थे। बाहर से बहुत से श्रावक तथा श्राविकाएँ पधारी थीं।

मुनि व्रत धारण करके श्री लेखराज जी को बहुत आनन्द

हुआ। उन्होंने अपने आप को कृत कृत्य समझा और अपने लिये आत्म कल्याण का द्वार खुला हुआ अनुभव किया। वैरागी श्री लेखराज जी को संयम क्या मिला, रंक को नव-निधियाँ मिल गईं। मानो दरिद्र के घर कल्पवृक्ष उपस्थित हो गया था जिस प्रकार एक तृपार्त व्यक्ति को मरुधर प्रान्त में शीतल जलाशय प्राप्त होने पर जो संतोष और मानसिक आनन्द की प्राप्ति होती है उस से भी अधिक आनन्द युवक श्री लेखराज जी को प्राप्त हुआ। आप का हृदय सन्तुष्ट हुआ और अन्तरात्मा को अपूर्व शान्ति का लाभ मिला। इस के पश्चात् हमारे चरित्र नायक के जीवन का नव प्रभात आरम्भ हुआ।

संसार में कर्मशक्ति भी कितनी महा बलवती है यह एक क्षण में महाराजाधिराज को रङ्क और धनहीनों को धनाढ्य बना देती है, प्रखर पण्डितों को महामूर्ख और अज्ञानियों को ज्ञान की पराकाष्ठा पर पहुँचा देती है, सुखियों को परम दुखी और अतीव-पीड़ितों को प्रफुल्लित बना देती है, नीरोगियों को असाध्यव्याधियुक्त और मरण शय्या पर पड़े हुओं को स्वस्थ कर देती है, दाताओं को दर-दर के भिखारी और रंकों को राव बना देती है। इस प्रकार हमारे चरित्र नायक श्री लेखराज जी जो एक घड़ी पूर्व एक साधारण युवक थे किन्तु दीक्षित होने के पश्चात् राजा महाराजाओं के पूज्य बन गये। यह कर्म शक्ति का नहीं, अपितु आत्म शक्ति का महा प्रभाव था। अस्तु, गुरु महाराज ने आपका साधुनाम "श्री ऋषिराज जी" रखा और इसलिये आप अपने मुनि जीवन में इसी नाम से पुकारे जाते रहे।

ऋषिराज नाम भी कितना सुन्दर और कितना रहस्य पूर्ण है। गुरुवर्य ने यह नाम अपने गम्भीर आन्तरिक विचार के पश्चात् रक्खा है। नाम का भी मनुष्य के जीवन पर कुछ न कुछ

अवश्य प्रभाव पड़ता है। सुन्दर नाम का सुन्दर प्रभाव पड़ता है और असुन्दर का उसके विपरीत। इस लिये माता पिता तथा गुरुजनों को अपनी प्रिय सन्तान तथा अपने शिष्यों के नाम सुन्दर रखने चाहिये। कई अज्ञानी माता पिता अपने बालकों के बड़े असुन्दर नाम रखते हैं जैसे कूडामल, बुद्धूराम, छित्तरमल आदि। 'कूडा' का अर्थ है 'झूठा' या 'कचरा' और बुद्धू का अर्थ है मूर्ख एवं 'छित्तर का अर्थ है पैर का जूता। अब जिसको बाल्यकाल से ही अपने सम्बन्ध में अहर्निश ये गदे नाम सुनने पड़ेंगे उसकी भावनायें किस प्रकार उच्च बन सकती हैं। जिन्हें माता पिता और समस्त मित्र बांधव झूठा मूर्ख एवं छित्तर आदि कहते रहेंगे और ये इतने गदे शब्द हर समय उसके कानों में उतर कर हृदय पटल पर अपना मद प्रभाव डालते रहेंगे। उनको सत्यता तथा बुद्धिमत्ता से कैसे सम्पर्क हो सकता है। इसके विपरीत यदि हमारे भारतीय मित्र अपनी संतानों के शुभ नाम सुन्दर-सुन्दर रक्खें जैसे दयापाल, सत्यदेव, धर्म चन्द्र, महावीर तो उनका शुभ प्रभाव नाम वाले की भावनायें ऊँची बनायेगा।

इसलिये गुरुदेव ने श्री लेखराजजी का मुनि नाम श्री ऋषिराज रखकर वास्तव में उन्हें ऋषियों का राजा अर्थात् ऋषियों से भी उत्कृष्ट बनने की स्वयं तो मंगल भावना दी और लेखराज जी को उत्साह दिया और उसके फल स्वरूप उन्होंने सचमुच ऋषि जीवन व्यतीत करके अपने नाम को सार्थक बनाया।

विद्या अध्ययन

आपकी ज्ञान पिपासा अत्यन्त तीव्र थी। इसी पिपासा को शान्त करने के निमित्त आपने अपने विद्या के सागर गुरुदेव के चरणों का सहारा लिया था। अब आप एकाग्र चित्त से पठन-पाठन एवं शास्त्रानुशीलन करने लगे। इस पठन-पाठन में आप गुरु-सेवा में भी किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होने देते थे। आपका यह दृढ़ विश्वास था कि गुरु-सेवा और गुरु कृपा से विद्याभ्यास में उन्नति और ज्ञान प्राप्ति अधिकाधिक रूप में होती है।

प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में यह प्रथा सी थी कि शिष्य गण गुरुदेव के समीप विद्याध्ययन के लिये जाया करते थे उनके खान-पान की व्यवस्था गुरुकुलों में ही हुआ करती थी। इस सम्बन्ध में एक गाथा जैन धर्म के परम माननीय श्री उत्तराध्ययन जी सूत्र के ११ वे अध्ययन में भगवान महावीर ने भी स्वयं अपने मुखारविन्द से कही है जो इस प्रकार से है—

वसे गुरुकुले निच्चं, जोगवं उवहाणव।
पियंकरे पियंवाई, से सिक्खं लद्धुमरिहई ॥१४॥

अर्थात्—जो शिष्य हमेशा ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए एवं तपश्चर्या तथा सादगी के साथ सादा जीवन व्यतीत करते हुए और विनय नम्रतापूर्वक मधुर भाषी बन कर "गुरुकुल" में गुरु के समीप उपस्थित होकर विद्याध्ययन करते है वे ही आज्ञाकारी शिष्य पूर्णतया ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

पाठशालाओं में या गुरुकुलो में राजा तथा रंक के बालक

विना किसी भेद-भाव के पढ़ा करते थे। विद्यार्थी गुरुकुल सम्बन्धी तथा अपने गुरु की सेवा के प्रायः समस्त कार्य स्वयं ही सम्पन्न करते थे, जैसे कि पानी भरना, लकड़ी काटना या शाक सब्जी उत्पन्न करना इत्यादि ऐसे कामों में सभी विद्यार्थी विना किसी संकोच या अरुचि प्रकट करने के लग जाया करते थे। इसीलिए उन संस्थाओं में शिक्षा प्राप्त करके जो विद्यार्थी बाहर निकलते थे वे अपनी कष्ट-सहिष्णुता तथा सेवा भाव के कारण देश तथा समाज के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ करते थे। उस समय गुरु-शिष्य का सम्बन्ध परस्पर में पिता पुत्र का सा ही था। शिष्य अपने गुरु का यावज्जीवन सम्मान करते थे और गुरु उन्हें सदैव अपना आत्मीय समझ कर सदा सदुपदेश देकर सन्मार्ग पर चलाते थे। परन्तु समय के प्रवाह और प्रभाव से वह स्थिति आज नितान्त प्रतिकूल हो गई है। उस प्रथा का एक प्रकार से अभाव ही हो गया है। पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा से विभूषित आज के गुरु शिष्यों में जो सम्बन्ध दृष्टिगोचर हो रहा है उसे देखकर आश्चर्य होता है। गुरु को केवल अपने वेतन का ध्यान रहता है। उनका प्रयत्न यही रहता है कि शीघ्रातिशीघ्र अपना पाठन काल व्यतीत करके निवृत्त हों और शिष्य की आत्मिक या शारीरिक उन्नति की ओर या उनके सदाचार की ओर कुछ भी दृष्टि नहीं रहती। विद्यार्थी समझता है कि मैं फीस देकर पढ़ता हूँ उसमें मेरे पर अध्यापक का कोई उपकार नहीं इस कारण उस विद्यार्थी के मन में गुरु भक्ति लेशमात्र भी नहीं होती। गुरु शिष्य का इस प्रकार का व्यवहार तथा सम्बन्ध होने का ही यह अशुभ परिणाम हो रहा है कि इस समय की विद्यापीठों से निकलने वाले विद्यार्थियों में चरित्र-सुधार की भावना बहुत स्वल्प मात्रा में ही पाई जाती है। आज

के अधिकांश विद्यार्थी अपने कथन तथा कृति से समाज पर किसी प्रकार के सुखद प्रभाव नहीं डाल रहे है अपितु उसके विपरीत प्रति दिन उद्दंडता में ही वृद्धि करते जाते हैं। इन्ही दुखद घटनाओं को देखकर तथा सुन कर और उनके दुष्परिणामों को अनुभव करके बहुत से विद्वान् आधुनिक शिक्षा-पद्धति में ही आमूलचूल परिवर्तन करने की योजना बना रहे हैं। प्राचीन शिक्षा-प्रणाली को पुनरुज्जीवित करने के लिये अनेक स्थानों में गुरुकुल-पद्धति, मौडल स्कूल, पब्लिक स्कूल इत्यादि खोलने का प्रयत्न हो रहा है।

प्रायः इस आर्य्य देश से पुरातन शिक्षा-पद्धति लुप्त हो चुकी है किन्तु जैन धर्म का साधु समाज उसको अभी तक जीवित रख रहा है। जैन धर्म के नवदीक्षित साधु अपने गुरु के चरणो में स्थित रहकर ही विद्याध्ययन करते हैं और अपने तन मन से उनकी सेवा में तल्लीन रहते है। इस प्रकार अपने गुरुदेव की सेवा करते हुए हमारे चरित्रनायक नव दीक्षित मुनि श्री ऋषिराज जी महाराज तपस्या का आराधन करते हुए संस्कृत तथा प्राकृत के व्याकरण, पूर्ण त्याग वैराग्य के साथ पढ़ते रहे और काव्य, कोष, छन्द, अलंकार आदि के साथ साथ जैन धर्म के परम माननीय ३२ पवित्र आगमो का अध्ययन किया। अतः आचाराङ्ग, सूत्र कृताङ्ग, ठाणांग, समायांग, भगवती आदि बत्तीस के बत्तीस सूत्रो का आपने गम्भीर अध्ययन किया था, और सूत्रों की गहन से गहन गुत्थियो को आपने समझा था यही कारण था कि आप किसी भी चर्चावादी से किसी भी समय परास्त नहीं होते थे। बल्कि प्रतिवादी को स्वल्पकाल तथा थोड़े ही शब्दों में परास्त कर देते थे। आपकी व्याख्यान शक्ति बड़ी ओजस्विनी थी। आपके कहने और समझाने की शैली अति मनोहर थी। इसीलिये आपको पण्डित राज की

पदवी से विभूषित किया गया था। प्राय आज हमारे सन्मुख बहुत थोड़े विद्वान् है जो सुनिश्चित रूप से धर्म का स्वरूप समझावे और मतभेद या शकाओं का समाधान कर सके। किन्तु महाराज श्री ऋषिराज जी की विद्या और योग्यता इस प्रकार की थी कि वह चतुर्विध संघ के धर्म मार्ग को उद्बोधन तथा सचालन कर सकते थे। आप धीर, वीर और प्रभावी मुनि थे। आप प्राचीन मन्तव्यो को न्याय युक्ति से समर्थन करने वाले थे। आपकी उपदेश शली समाज में अत्युत्कृष्ट समझी जाती थी। आपके प्रवचन क्रान्तिकारी एवं प्रभावशाली होते थे, जिनसे समाज में क्रान्ति की लहर उत्पन्न होती थी।

आपका आत्मिक ज्ञान और शास्त्र स्वाध्याय इतना प्रबल होगया था कि आपने अपने जीवनकाल में जैन धर्म के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण करने तथा जैन धर्म एवं संयम मार्ग की व्याख्या करने के निमित्त कई उपयोगी ग्रन्थों की भी रचना की है। जिनमें कुछ एक के नाम ये हैं :—

(१) सत्यार्थ सागर—यह एक बहुत बड़ा ग्रन्थ है। इसमें बहुत से गूढ तत्त्वों का स्पष्टीकरण किया गया है।

(२) विवेक सिलास—इसमें बहुत से उपयोगी एवं धार्मिक तथा उपदेश पूर्ण सुन्दर-सुन्दर पद्य भी है और धार्मिक चर्चा भी की गई है।

(३) महिपाल चरित्र—अर्थात् उपदेश रत्नमाला इसमें दान शील, तप, भावना रूप चार प्रकार के धर्म की व्याख्या बड़े सुन्दर एव सरल रूप से की गई है। इसके पढ़ने में पाठको को बहुत आनन्द आता है।

(४) प्रश्नोत्तर माला—यह भी एक धार्मिक चर्चा की बहुत सुन्दर पुस्तक है।

(५) महावीर चरित्र—इसमें भगवान् महावीर का जन्म से निर्वाण तक का विस्तृत जीवन वृतान्त बहुत सुन्दर कविता में वर्णन किया गया है, जो पुस्तक के नाम से ही प्रगट हो रहा है।

(६) भूमिका—

(७) दिगम्बर मत चर्चा—और

(८) तेरह पंथ-मत चर्चा —ये तीनो ग्रन्थ भी चर्चा सम्बन्धी हैं। जिनका विषय नाम से ही मालूम होता है।

इन ग्रन्थो में से बहुत से प्रकाशित भी हो चुके हैं और शेष की हस्तलिखित प्रतियाँ पड़ी हैं। दुर्भाग्य से जैन समाज ने उनको प्रकाशित करने की ओर कुछ ध्यान नहीं दिया अन्यथा ये ग्रन्थ भी जैन समाज के लिये बड़े उपयोगी और लाभदायक हो सकते थे।

आप अपने समय के प्रकाण्ड पण्डित और धुरंधर विद्वान् थे। साधु समाज में भी इसीलिये आपका अत्यन्त सम्मान था। अपने व्याख्यानो में धारा प्रवाह रूप से आगमों के प्रमाण देते थे। आप जो कुछ भी कहते थे उसकी पुष्टि में जैन शास्त्र का प्रमाण अवश्य देते थे और इतने प्रभावशाली वक्ता होते हुए भी विनीत भाव से कहा करते थे कि मै अपनी ओर से कुछ नही कहता, मैं तो केवल भगवान् महावीर स्वामी का संदेश और उनका प्रवचन ही जनता के सम्मुख रखता हूँ। यदि इसमें कुछ रस है तो वह इसीलिए है कि यह तीर्थंकर भगवान् का पुनीत और जीवन-प्रद प्रवचन है अन्यथा मेरे कथन में कोई विशेषता नहीं है। वास्तव में महापुरुषो का सर्व प्रथम लक्षण यही होता है कि वे उच्च और उत्कृष्ट होते हुए भी विनम्र और विनीत होते है। हमारे चरित्र नायक परमपूज्य श्री ऋषिराजजी महाराज इसीलिये वस्तुतः एक महापुरुष थे।

तपश्चर्या

हमारे चरित्र नायक श्री ऋपिराजजी महाराज ने गुरुदेव से साधु दीक्षा लेकर शास्त्रो का गम्भीर अध्ययन प्रारम्भ किया। गुरुमुख से सूत्रो का गम्भीर अर्थ श्रवण करके उन्हे हार्दिक उल्लास होता था जैनागमो का पठन-पाठन कितने मनोयोग तथा शीघ्रता से आपने किया था उसका वर्णन अन्यत्र हो चुका है। कालान्तर में शास्त्राभ्यास के साथ-साथ आपने तपस्या करने का भी निश्चय किया। आपको यह पूर्णतया विदित हो चुका था कि तपस्या की अग्नि में राग, द्वेप, दुःख, शोक ईर्ष्या, स्पर्धा आदि की आहुति देकर ही आत्मतत्त्व को वीतराग, निर्विकार, चिदानन्द बनाया जा सकता है। इस कठोर साधना में पीड़ा भी अतीव उठानी पडती है किन्तु इसके विना आत्म-कल्याण होना भी सम्भव नहीं। शरीर के ऊपरि अर्थात् बाह्य और भीतरी अर्थात् अभ्यन्तर वासनाओ को दबा कर उनके स्थान में दया, क्षमा तथा परोपकार आदि दैवी गुणों का प्रतिष्ठापन करना ही तो वास्तविक तपस्या है। ससार के ऐश्वर्य के समस्त साधन और राजसी भोग-विलास जिन्हे सहज, सुलभ प्राप्त है उन्हे छोड़कर स्वेच्छा से, त्याग वृत्ति अङ्गीकार करना ही वास्तविक त्याग है। किसी भिक्षुक को राजसी वैभव आकांक्षा करने पर भी प्राप्त न हो सकें और वह फिर भी उनके त्याग की घोपणा करता फिरे तो यह केवल आत्म-वञ्चना ही कही जावेगी। सच्ची तपस्या त्यागपूर्ण भावो में ही निहित है। तपस्या का प्रथम और अन्तिम लक्ष्य इन्द्रिय दमन के साथ राग-द्वेषादि कपायों को दूर कर आत्म-कल्याण

की ओर अग्रसर होते रहना ही तो है। तपस्या की अवस्था में इस मार्ग से भ्रष्ट करने के लिए अनेक प्रकार की आन्तरिक और बाह्य आधि-व्याधियाँ या तो हमारी निर्बलता से हमारा मार्ग रुद्ध करने के लिये आकर उपस्थित हो जाती हैं या फिर दूसरे समुदाय द्वारा मार्ग भ्रष्ट करने के लिये उपस्थित कर दी जाती हैं। यही तो देवासुर संग्राम है जो सदा से होता चला आ रहा है और सदा ही होता चला जाएगा। जिन की आत्मा दृढ़ है, मन शुद्ध है, आचरण निष्कलङ्क है वे तो इस प्रकार की आधि व्याधियों को चकनाचूर कर आगे की ओर बढ़ते ही रहते हैं। परन्तु जो केवल भावावेग या भौतिक उन्नति की कामना से इस मार्ग के पथिक बन जाते हैं उन्हें अपना गृहीतमार्ग छोड़ कर उसी राग-द्वेष पूर्ण परिधि के भीतर आना पड़ता है जिससे निकलने का उन्होंने प्रयास किया था।

योग्य गुरु के चरणों में बैठ कर विद्या अभ्यास करते हुए आपने तपस्या पर अधिकाधिक विचार करने के पश्चात् तपस्या प्रारम्भ कर दी। छोटी अवस्था में इस प्रकार की तपस्या, कष्ट सहिष्णुता आश्चर्यजनक तो थी ही परन्तु साथ ही यह आपके दृढ़ मनोबल का परिचय देने वाली भी थी।

आपने कुछ काल तक तो बेले-बेले किये और सोलह अट्ठाई की। फिर दो-दो मास तक एकान्तर व्रत भी किये, इससे आपका शरीर बहुत निर्बल हो गया किन्तु फिर भी आपने इसकी कुछ परवाह न करते हुए अधिक दिनों के उपवास और भी किये, इस प्रकार आपने बड़ी कठोर तपस्याएँ कीं। इस ढंग की तपस्याएँ सरल नहीं होतीं। हर एक को ऐसी दुष्कर तपस्याएँ करने की क्षमता नहीं होती। यद्यपि शारीरिक दृष्टि से आप निर्बल प्रतीत हो रहे थे तथापि आत्मिक दृष्टि से अधिकाधिक शक्तिशाली होते जाते थे। आपका मन स्थिर

और आत्मा तेज पुञ्ज हो रहा था। तपस्या का सहारा पाकर आपकी काया भी तप्त कञ्चन की भाँति सुन्दर हो रही थी। उसी समय आपने अपनी तपस्या को और भी बढ़ाने का विचार किया एवं आपकी तपशक्ति अधिकाधिक विकसित होने लगी। आपकी भावना भी यही रहती थी कि अधिकाधिक तपस्या कर के कल्याण मार्ग का पथिक बना जाए। इसलिये आपने कई बार अधिक काल की तपस्याएँ भी कीं। प्रति वर्ष आप कई नई छोटी मोटी तपस्याएँ करते थे। आपके पूज्य गुरुदेव श्री कंवर सेनजी महाराज आपकी इन तपस्याओं से अत्यन्त ही सतुष्ट एवं प्रभावित हुए। जिस उद्देश्य से आपने अपने योग्य शिष्य को शास्त्र ज्ञान और जैन दर्शन के उदात्त सिद्धान्तों से परिचित किया था उन उद्देशों को पूर्ण होता हुआ देख कर गुरुदेव का अत्यधिक सन्तुष्ट एवं प्रसन्न होना स्वाभाविक ही था। गुरुवर्य ने अपने अनन्य शिष्य की तपस्याओं की मुक्त कण्ठ से सराहना की। गुरुदेव शिष्य की अन्तर्मुख वृत्तियों से पूर्णतया परिचित थे। उन्हे शिष्य की आत्मिक दृढ़ता का पूरा पूरा भान था। उनकी यह महान इच्छा और मंगलमय अभिलाषा थी कि उनका योग्य शिष्य देश विदेश में भ्रमण करे। और अपने ज्ञान, तपस्या आदि सद्गुणों द्वारा वीरवाणी का प्रसार एवं प्रचार करे।

जैन साधु अपने शिष्य से यही आशा रखता है कि वह अपने सयम व्रत पर दृढ रहे, अपनी धर्म-क्रियाओं का पूर्ण रूप से पालन करे और भगवान महावीर का अहिंसा, सत्य और संयम का पवित्र सन्देश स्थान स्थान पर पहुचाये। स्वय तपस्या द्वारा अपनी आत्मा का कल्याण करे और अपने शुद्ध चारित्र तथा संयम का उच्च आदर्श सर्व साधारण के अनुसरण के लिये प्रस्तुत करे। जैन गुरु अपने शिष्य से किसी प्रकार

की द्रव्य भेंट की आशा नहीं रखता। यही जैन गुरु की विशेषता है।

इस प्रकार यदि श्री ऋषिराज जी महाराज पहले स्वर्ण थे तो अब अपनी शुद्ध तपस्या के फलस्वरूप कुन्दन बन गये और उससे उन्होंने अपने बहुत-से कर्मों को क्षय कर दिया।

मनुष्य भले ही गृहस्थ धर्म में विचरे और भले ही त्याग वृत्ति धारण करे, जब तक उसका जीवन तपोमय नहीं है उसे कुछ प्राप्ति नहीं हो सकती। तप युक्त जीवन ही मनुष्य को सफलता दिला सकता है। तप रहित जीवन नीरस, शुष्क थोथा और खोकला होता है। हमारे चरित्र नायक श्री ऋषिराज जी महाराज ने तपोबल से ही अपने आप को साधारण व्यक्ति से ऋषियों का राजा बनाया।
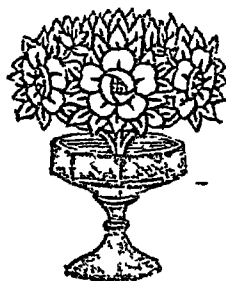
चातुर्मास्य

जैन साधु के लिए आदेश है कि वर्षाकाल के चार मास के अतिरिक्त वह कहीं भी स्थायी रूप से अधिक काल के लिए न ठहरे। जब तक उसमें चलने फिरने की क्षमता रहे तब तक वह विहार अर्थात् पर्यटन करता हुआ स्थान स्थान में जाकर लोगों तक भगवान महावीर स्वामी का पवित्र संदेश पहुंचाए। केवल बडे बडे नगरों में ही न जाय और उन्हीं स्थानों में न जाए जहाँ उसे अच्छी सेवा शुश्रूषा होने की आशा हो या अच्छा स्वादिष्ट भोजनाच्छादन मिलने की सम्भावना हो किन्तु ऐसे देशों का भी भ्रमण करे कि जहां जाना भी कठिन हो और जहां विशेष सेवा शुश्रूषा की भी आशा न हो। इसी नियम के अनुसार हमारे चरित्र नायक श्री ऋषिराजजी महाराज भी दीक्षा लेने के पश्चात् अनेक स्थानों में भ्रमण करके भव्य जीवों के कल्याणार्थ भगवान महावीर के संयम मार्ग का प्रचार करते रहे और केवल चातुर्मास्य में ही एक स्थान पर वहां के लोगों की विनती स्वीकार करके चार महीने तक ठहर कर वहां के लोगों की धर्म-पिपासा को शांत किया। इस प्रकार भरतपुर, हाथरस, हरदुआगंज, जलेसर, देहली, नारनौल, खेतडी, सिंघाणा, खाटू खंडेला, जेपुर, अलवर एवं महेन्द्रगढ़ दादरी भिवानी तोसाम हाँसी, जींद, करनाल, कान्धुवा जंडला, बडसत, अम्बाला, श्यामली कांधला बडौत आदि क्षेत्रों में पर्यटन किया। अस्तु महाराज श्री ने गुरुचरणों में दीक्षा प्राप्त करके ३८ वर्ष और २४ दिन तक अपना श्रामण्य पालन किया। इस काल में वे कभी अपने संयम मार्ग से विचलित नहीं हुये। सदा ही अपने कठोर व्रतों तथा नियमों का पूर्ण रूपेण पालन किया।

इस साधु जीवन में जो जो चातुर्मास्य आपने किये हैं उनका संक्षेप से वर्णन इस स्थान में किया जाता है। उन अवसरों पर जो श्रद्धा भक्ति लोगों की ओर से प्रकट की गई थी और जो सम्मान आपका हुआ था और जिस प्रेम से आपका वचनामृत जनता ने श्रवण किया था और जो पुनीत भाषण आपने दिये थे, उनका संक्षिप्त वर्णन अन्यत्र किया गया है।

अब श्री ऋषिराजजी महाराज के चातुर्मासों का कुछ संक्षिप्त सा विवरण यहाँ पर दिया जाता है। जैसे कि—पूर्व लिखा जा चुका है—आपका श्रामण्य काल कुल ३८ वर्ष और २४ दिन तक रहा। इस काल में आपने ३८ चतुर्मास किये जो इस प्रकार से हुए थे—

सम्वत् १९२६ – मंगशिर कृष्णा अष्टमी मंगलवार के दिन संयुक्त प्रान्त के मेरठ मण्डलान्तर्गत 'हिलवाड़ी' ग्राम में गुरुदेव त्याग मूर्ति श्री कंवरसैन जी महाराज के कर कमलों से दीक्षा प्राप्त की थी इसके पश्चात् आप ने सर्व प्रथम चतुर्मास—

सम्वत् १९२७—में आगरे की लोहामण्डी में अपने पूज्य श्री गुरुदेव के साथ किया। तदनन्तर शर्दी और गर्मी के शेखे काल में हाथरस, हरदुआगञ्ज, लश्कर ग्वालियर, सीपरी (शिवपुरी) लखनऊ आदि क्षेत्रों में धर्म प्रचार करके—

सम्वत् १९२८ और १९२९—के दोनों चतुर्मास भी आपको गुरुदेव के साथ ही आगरा की लोहामंडी में करने का सुअवसर प्राप्त हुआ।

ये उपरोक्त तीनों चतुर्मास लगातार एक ही क्षेत्र में किये गये क्योंकि—इसमें कई कारण थे। सबसे मुख्य कारण तो यही था कि आपके पूज्य गुरुदेव श्री कंवरसैन जी महाराज वृद्धावस्था एवं रुग्णता के कारण कुछ दिन स्थिरवास रहे। और आपको स्थायी रूप से यहाँ पर शास्त्राभ्यास करने का

एवं गुरु सेवा का सुअवसर प्राप्त होता रहा। उसके पश्चात आपकी गुरुभक्ति एवं सेवा शुश्रूषा से गुरुदेव जी पूर्णतया स्वस्थ हो गए और आप सन भरतपुर, करौली, हिंडौन, अलवर, देहली आदि अनेक क्षेत्रों में विचरण करते हुए मेरठ मुजफ्फर नगर के क्षेत्रों में पधारे। और

सम्वत् १९३० का चतुर्मास आपने गुरुदेव के साथ ही 'श्यामली' शहर जिला मुजफ्फर नगर में किया। वहाँ पर उस समय एक श्वेताम्बर जैन मन्दिर था उसी में आप चार मास विराजमान रहे। वहां के जैन भाई अधिकतर दिगम्बर सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखते थे। इन्होंने ही आपका चतुर्मास अत्याग्रह से मंजूर कराया था। इसके पश्चात् तो आपके प्रभाव पूर्ण धर्मोपदेश से प्रभावित होकर बहुत से अग्रवाल घरों ने भी जैन धर्म आचरण रूप से स्वीकार कर लिया था। जो आज तक भी जैन धर्म का बड़े प्रेम के साथ पालन करते आ रहे हैं। महाराज श्री के साथ उन सबका बड़ा घनिष्ठ प्रेम था। वे सभी आजतक उनका नाम बहुत याद करते रहते हैं। और महाराज श्री के त्याग पूर्ण तथा तपस्या मय जीवन का तथा उनके मनोहर उपदेशों का अति उत्तम प्रभाव आज तक उन लोगों के हृदय पटल पर अंकित है। जिससे उनके त्याग पूर्ण जीवन का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। जिस श्वेताम्बर जैन मन्दिर में आप उस समय विराजमान हुए थे वह मन्दिर अब वहां पर नहीं रहा अपितु आपके सत्य धर्मोपदेश और अत्युत्कृष्ट तप के प्रभाव से वहाँ पर भी स्थानकवासी सम्प्रदाय ने स्थान प्राप्त कर लिया था और इसी का कारण है कि आज वहाँ पर एक जैन स्थानक भी बन चुका है, जो कि बहुत सुन्दर है और जिसमें समय समय पर सत्य धर्म की प्रभावना होती रहती है।

इसके बाद झिंझाणा, लिसाड़, मितलावली, कांधला, गंगेरू, तितरवाड़ा, एलम, परासौली, सैनपुर, दोघट, निरपड़ा, धामनौली, विनोली, बड़ौत, हिलवाड़ी, सराय लुहारा, गाजियाबाद, हापुड़, खुरजा, हाथरस आदि अनेक क्षेत्रों में धर्म प्रचार करते हुए आप पुनः आगरा शहर में पधारे। वहाँ के श्रावक आपसे पूर्व मे ही पूर्ण तया परिचित थे। अतः आपने उन्होंने अत्याग्रह करके आगामी चतुर्मास की स्वीकृति प्राप्त कर ली थी। तदनन्तर शेपाकाल भरतपुर आदि क्षेत्रों में पर्यटन करते हुए।

सम्वत् १६३१ का चतुर्मास आपने पुन संयुक्त प्रान्त के प्रसिद्ध नगर 'आगरा शहर' में अपने पूज्य गुरुदेव के साथ ही किया। इस चतुर्मास में भी धर्म प्रचार एव शास्त्राभ्यास बहुत अधिक हुआ। तदनन्तर

सम्वत् १६३२ का चतुर्मास आपने जिला मेरठ के 'हिलवाड़ी' ग्राम में पूज्य गुरुदेव के साथ ही किया। यह वही ग्राम है कि जहाँ पर सम्वत् १६२६ के मगसिर मास की कृष्णा अष्टमी को आपने साधु दीक्षा धारण की थी अस्तु इसके पश्चात् आपने पंजाब प्रान्त में विचरण किया और अम्बाला, थानेसर, काछुवा, जूंडला एवं करनाल आदि अनेक क्षेत्रों को पावन करते हुए 'बड़सत' ग्राम के श्रावकों की चतुर्मास सम्बन्धी प्रार्थना स्वीकार की। और

सम्वत् १६३३—का चतुर्मास आपने 'बड़सत' जिला करनाल में ही किया। यहाँ पर आपने मौखिक धर्म प्रचार के अतिरिक्त 'उपदेश रत्नमाला-अर्थात्-महीपाल चरित्र', ग्रन्थ की भी रचना की और दूसरे कई ग्रन्थों को भी लिखना प्रारम्भ किया। श्री उपदेशरत्नमाला में दान, शील, तप, भावना रूप चार

प्रकार के धर्म की बड़ी सुन्दर-तुलनात्मक व्याख्या की गई है। बड़ा ही रसीला तथा बहुत ही उपयोगी एवं उपदेश पूर्ण ग्रन्थ है। श्रावक लोग इस ग्रन्थ को पढ़कर एवं श्रवण करके बहुत हर्षित हुए। तदनन्तर अगले वर्ष —

सम्वत् १९३४—का चतुर्मास "कुराल्सी" जिला मुजफ्फर नगर में हुआ। यह ग्राम परासौली से करीब ३-४ कोस के फासले पर शोभायमान है। यहां पर पहले सभी श्रावक आपके पवित्र उपदेश से साधु मार्गी धर्म का पालन करते थे। किन्तु आपका स्वर्गवास हो जाने के पश्चात् किसी साधु के न पहुंचने से अब वहाँ पर दिगम्बर सम्प्रदाय का प्रचार हो रहा है। उस समय तो प्रायः सभी बड़ी श्रद्धा भक्ति के साथ आपके व्याख्यानों में उपस्थित होते थे और बड़ा रस लेते थे।

सम्वत् १९३५—का चतुर्मास "डिंडाली" जिला मुजफ्फर नगर में हुआ। यह ग्राम श्यामली से करीब ६-७ कोस के फासले पर शोभायमान है। वहाँ के श्रावक वर्ग ने आपको चतुर्मास विषयक तीव्र विज्ञप्ति की थी। अतः उनका अत्यन्त प्रेम पूर्ण आग्रह देखकर आपने उनकी शुद्ध विज्ञप्ति को स्वीकार कर यह चतुर्मास भी सानन्द सम्पन्न किया और आस पास में भी बहुत धर्म प्रचार हुआ।

स० १९३६ - में तीन साल के पश्चात् पुनः बडसत जिला करनाल में चातुर्मास्य हुआ। इस चातुर्मास्य में भी बहुत धर्म कार्य हुए, बड़े समारोह से पर्यूषण पर्व मनाया गया और बड़ा धर्म प्रचार हुआ। लोगों की धर्म ध्यान की ओर अधिकाधिक प्रीति बढ़ी।

स० १९३७—में एल्लम उपनाम अल्लम जिला मुजफ्फर नगर में चातुर्मास्य हुआ। यह वही पवित्र स्थान है। जहाँ पर

आपकी चचेरी बहनें महा सती श्री पार्वतीजी एवं महा सती श्री जियोजी की सं० १६२४ में दीक्षाएँ हुई थीं। इस चातुर्मास्य में जैन तथा जैनेतर लोगों को बड़ा धर्म लाभ हुआ।

सं० १६३८—में तीन साल के पश्चात् पुनः हिंटोली जिला मुजफ्फर नगर में चतुर्मास्य हुआ। जैन तथा अजैन लोगों ने आपके पवित्र तथा प्रभावशाली भाषणों से दत्तचित्त होकर धर्म का विशेष लाभ उठाया। उनकी धर्म भावनाएं अत्यन्त सुदृढ़ बनीं।

सं० १६३६—में कैराना जिला मुजफ्फर नगर में चातुर्मास्य हुआ। इस चातुर्मास्य में बहुत से श्रावकों ने सामायिक तथा प्रतिक्रमण आदि सीखे और सूक्ष्म ज्ञान के तत्त्व समझे। इस प्रकार शास्त्रों का पठन पाठन भी बहुत होता रहा।

सं० १६४०—में तीन साल के पश्चात् पुनः एलम जिला मुजफ्फर नगर में चातुर्मास्य किया। एक ओर श्री ऋषिराज जी महाराज के व्याख्यान होते थे और दूसरी ओर कुछ अन्य लोगों ने श्रीभरताजी महाराज का चातुर्मास्य कराया। अधिकतया बाद लोगों ने इसका प्रबन्ध किया था क्योंकि श्रीभरताजी महाराज की वाणी भी मधुर और रसीली थी। दोनों ओर खूब धर्म प्रचार हुआ। श्री ऋषिराज जी महाराज के पुण्य प्रताप और तप के प्रभाव से बड़ी धर्म जागृति हुई। आठ आठ और अठारह-अठारह दिनों के व्रतोपवास तथा पचरंगी तपस्याएँ भी महाराज श्री के पुण्य प्रताप से बहुत हुई थीं।

सं० १६४१—में ६ वर्ष के बाद पुनरपि आपने अपने दीक्षास्थान हिलवाड़ी ग्राम में चातुर्मास किया। इस चातुर्मास में धर्म ध्यान और धर्म प्रचार के अतिरिक्त एक चमत्कार पूर्ण घटना घटी, जो इस प्रकार है—

"लाला कन्हैयालाल जी एक भावुक और धर्म प्रेमी श्रावक

थे। इनके परिवार में से किसी व्यक्ति को देव प्रयोग से कोई विशेष कष्ट था। अनेक उपाय करने पर भी वह कष्ट शान्त नहीं हो रहा था।

एक दिन लाला कन्हैयालाल जी उस व्यक्ति को गुरुदेव के चरणों में ले आए। गुरुदेव ने कृपा करके उसको मंगल-पाठ सुनाया। मगल-पाठ के श्रवण करते ही उसका वह विशेष कष्ट पूर्णतया शान्त हो गया।

इस चमत्कार पूर्ण घटना से ग्रामवालों पर बड़ा ही विलक्षण प्रभाव पड़ा। ग्राम में, बहुत दिनों तक इस घटना की चर्चा चलती रही। वास्तव में, यह सब कुछ गुरुदेव के तपोबल का ही प्रभाव था।

स० १६४२—में चार वर्ष के पश्चात् एक बार फिर 'ढिढाली' ग्राम जिला मुजफ्फर नगर में चातुर्मास्य हुआ। श्रावक लोग प्रतिदिन सामायिक प्रतिक्रमण आदि में उद्यम करने लगे तथा महाराज श्री के वैराग्यपूर्ण उपदेशो से अपनी-अपनी आत्मा का कल्याण करने लगे।

सवत् १६४३—सात वर्ष के पश्चात् एक बार फिर बड़सत जिला करनाल में चातुर्मास्य हुआ। कितने ही श्रावकों ने स्तोक ज्ञान सीखे, कितनो ने सामायिक प्रतिक्रमण आदि कण्ठस्थ किये और कितनो ने ग्रहस्थ के द्वादश व्रतों में कतिपय व्रत धारण किए। धारण ही नहीं किए उन का पालन भी करने लगे।

स० १६४४ में निरपड़ा ग्राम जिला मुजफ्फरनगर में चातुर्मास्य हुआ। वहाँ के लोगो ने इस चातुर्मास्य के निमित्त विज्ञप्ति करते हुए कहा था कि—" हे स्वामिन्। कई वर्षों से हमारे क्षेत्रो में आप जैसे विद्वान तथा शुद्ध चारित्रधारी मुनि नहीं पधारे। अब हमारे पुण्योदय से सर्वगुणों से मण्डित

आप हम पर कृपा कीजिए"। तब महाराज श्री ने उन की ऐसी श्रद्धा भक्ति को देख कर और अति धर्मलाभ होने के विचार से वहाँ पर चातुर्मास्य किया। धर्म की अत्यन्त प्रभावना हुई। खूब ही धर्मध्यान हुआ। इसी स्थान पर आप ने नव बाड़ ब्रह्मचर्य के और दशविध यति धर्म के झूलने दोहो सहित बनाए जिन में मुनि (साधु) के दश लक्षणों की कविता की। जिन को पढ़ कर बड़ा ही आनन्द प्राप्त होता है।

सं० १९४५ में पुनः श्यामली जिला मुजफ्फरनगर में चातुर्मास्य हुआ। पहले की तरह इस चातुर्मास में भी धर्मध्यान की अतीव वृद्धि हुई। और जिन धर्म की प्रबल रूप से प्रभावना हुई।

स० १९४६ में तीन वर्ष के पश्चात् एक बार फिर बड़सत जिला करनाल में चातुर्मास्य हुआ। श्रावक वर्ग के पवित्र हृदयो में महाराज श्री की पवित्र वाणी से अतीव धर्म प्रेम तथा धर्मोत्साह उत्पन्न हुआ। महाराज श्री के पवित्र प्रवचनों से उन्होंने अपनी आन्तरिक कालिमा को धो दिया और धर्म क्रियायें करते रहे। इस वर्ष भी धर्म की अतीव प्रभावना हुई।

सम्वत् १९४७ में 'लिसाढ' ग्राम जिला मुजफ्फर नगर में चातुर्मास हुआ। यहाँ पर अन्य धर्म प्रचार के अतिरिक्त तीन बातें विशेष उल्लेखनीय हुई हैं। उनमें प्रथम तो पूज्य गुरुदेव ने महासती श्री चन्दाजी को संस्कृत व्याकरण आदि शास्त्र पढ़ाए। तथा अमरकोश, सारस्वत-चन्द्रिका, भगवती सूत्र आदि का अति गम्भीर अध्ययन कराया, जिनको सती चन्दाजी ने बड़ी ही नम्रता के साथ—भक्ति-भाव पूर्वक अध्ययन किया। इस अवसर पर सतीजी की स्मरण शक्ति भी बड़ी ही तीव्र पाई गई। आपने चार मास में ही व्याकरण, काव्य, कोश एवं जैन आगमों का पूर्ण-

तया अध्ययन कर लिया था। अस्तु-महासती श्री चन्दाजी पजाब प्रान्त के जैन साध्वी संघ की एक बहुत ही प्रसिद्ध आर्यिका हैं। आपको अरबी, फारसी, का भी अच्छा अभ्यास है। और महाराज श्री के प्रति अपना विद्या गुरु होने के कारण विशेष ही भक्ति भाव रखती हैं। दूसरे इसी चतुर्मास में और इसी पवित्र स्थान पर आपने अर्थात् हमारे चरित्र नायक त्यागमूर्ति परम तपस्वी चरित्र चूडामणी श्री श्री १००८ श्री स्वामी ऋषिराज जी महाराज ने परमवीतरागी चौबीस तीर्थंकरो की स्तुति में कितने ही सुन्दर सुन्दर पद्यों की रचना भी की थी। तीसरे इस नगर पर भी अन्य नगरो के समान महाराज श्री ने विशेष कृपा दृष्टि की थी। वहाँ पर बहुत से गृहस्थ सज्जन—जो जाति के छिम्पी थे। उनकी समस्त जाति को महाराज श्री ने अपने सत्य धर्मोपदेश द्वारा जन धर्मानुयायी बनाया था और उन सब को दयाधर्म का पवित्र दान दिया था। इन सब गृहस्थों क यहाँ पर २५-३० घर तो अभी तक उसी प्रकार जैन धर्म का पालन करते हैं। और आशा करते है कि—भविष्य में भी उसी प्रकार पालन करते रहेंगे।

इसी छिम्पी जाति में श्रीमान् श्रावक हरगुलालजी तो आपके अति दृढ़ सम्यक्ती श्रावक हो चुके हैं। जिन पर महाराज श्री का बहुत अधिक प्रभाव था। और जिन्होंने गृहस्थ तो एक प्रकारसे छोड़ ही दिया था, यद्यपि साधु तो नहीं बने थे किन्तु फिर भी अपनी पिछली आयु के ३०-३५ वर्षों तक साधुजी की तरह ही विचरण करके श्रावक वृत्ति का पालन किया है और प्राय: भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में दो मास का वर्षाकाल अर्थात् वर्षा ऋतु का स्थिर वास भी स्वीकार करते थे। इनमें स्थिरवास रह कर शुद्ध जीवन बनाया था। ऐसे धर्मप्रिय श्रावक आजकल बहुत ही कम दिखाई देते हैं। जहाँ जहाँ

पर श्रावक हरगुलाल जी ने वर्षा वास किये हैं, वहाँ वहाँ पर दूसरे गृहस्थों में भी अपने जीवन और अपनी कथावार्ता एवं भजनोपदेश से अच्छा धर्म प्रचार किया है। और अपने परिवार का मोह भी वहुत ही कम कर दिया था। इसी का परिणाम है कि आज तक श्रीमान् श्रावक हरगुलालजी को भी देहरामावटी, राव्हेड़ा, हतवाला, सिघाणा मुहाणा, हाट, सांक आदि वहुत से क्षेत्रों के गृहस्थ श्रावक वहुत याद करते रहते हैं। इनका इतना पवित्र जीवन वन गया, यह सब श्री ऋषिराजजी महाराज के सत्य धर्मोपदेश का ही शुभ परिणाम है।

सम्वत् १६४८ में चौथी वार महाराज श्री ने अपने दीक्षा प्राप्ति वाले भाग्यशाली स्थान में अर्थात् हिलवाड़ी जिला मेरठ में चतुर्मास किया पूर्ववत् वड़ा धर्म प्रचार हुआ और जैन तथा जैनेतर भाइयों ने भी खूब धर्म लाभ उठाया।

सम्वत् १६४६ में चौथी वार फिर 'वड़सत' जिला करनाल में चतुर्मास हुआ। धर्म की वडी प्रभावना हुई। धर्म ध्यान उपासना और दयापालन की एवं पचरंगियों की खूब धूमधाम रही।

सम्वत् १६५० में करनाल नगर में चतुर्मास किया गया। श्रावकों ने वहुत ही अधिक व्रत उपवास एवं पोषध आदि वड़ी श्रद्धा भक्ति और प्रेम से किए। जैन लोग तो महाराज श्री के वचनामृत से लाभ उठाते ही थे किन्तु उनके अतिरिक्त और लोगों ने भी उनके पवित्र प्रवचन रूप समुद्र में गोते लगाये थे कि वहुना कोई जैन था या अजैन, सब लोगो ने महाराज श्री के धर्म उपदेशों से अतीव लाभ उठाया। नगर के कई प्रसिद्ध कर्मचारी भी महाराज श्री का पवित्र प्रवचन सुनने आते थे।

सं० १६५१—में कोछुआ ग्राम जिला करनाल में चातुर्मास्य

हुआ। इस चतुर्मास में भी महाराज श्री ने ऐसे सुन्दर, मृदु तथा रसीले उपदेश किये कि जिनके श्रवण करने से कठिन से कठिन चित्तवाले मनुष्यों का हृदय भी कांप उठता था। और परम दयालु बन जाते थे।

स० १६५२—में एक बार फिर "बडसत" जिला करनाल में चातुर्मास्य हुआ। आपके व्याख्यानो में जैन तथा जैनेतर, सभी लोग आते थे। क्योंकि आपके व्याख्यान निष्पक्ष तथा वैराग्यमय होते थे इसलिये सर्व साधारण के मनो को आकर्षित करते थे। इस बार भी खूब धर्म प्रचार हुआ।

स० १६५३—में फिर करनाल नगर में चतुर्मास हुआ। यहाँ के नगर निवासियो को आपका पवित्र प्रवचन इतना प्यारा लगता था और वे उससे इतने अधिक आनन्दित होते थे कि उनकी आग्रह पूर्वक विनती पर पुनः आपको करनाल नगर में ही चातुर्मास्य करना पड़ा। भाषण समाप्त होने पर यदि कोई आपसे प्रश्न पूछता था तो आप उसे ऐसी युक्तिपूर्वक मृदुवाणी से उत्तर देते थे कि उसका सन्देह पूर्णतया दूर हो जाने से उसे पूर्ण रूप से शान्ति हो जाती थी। समस्त शंकाओ का समाधान बड़ी विद्वत्ता तथा योग्यता के साथ देते थे। इसी चतुर्मास में आपके त्यागपूर्ण उपदेशों को श्रवण करके ला० निरजनलालजी रामप्रसादजी जैन जैसे सद् गृहस्थों ने अपना एक भव्य मकान श्री जैन स्थानक के लिए-जैन पञ्चायत को दान दे दिया था। जो आज भी छोटे स्थानक के नाम से करनाल नगर में अपनी भव्य ख्याति के साथ विद्यमान है।

स० १६५४—में तीन वर्ष के पश्चात पुनः काछुवा जिला करनाल में चातुर्मास्य हुआ। जिसमें आपने तप, क्षमा, दया, अहिंसा, सत्य, शान्ति आदि अनेक विषयों पर मृदु तथा

सुकोमल सत्य धर्मोपदेश रूपी अमृत की वर्षा की। और अनेक जीवों के हृदय से मिथ्यात्व रूपी कठिन तरङ्गो को उत्पाटन किया।

सं० १६५५—में आपका "पीर विड़ोली" जिला मुज़फ्फरनगर में चातुर्मास्य हुआ। जिसमें महाराज श्री ने अपने सुयोग्य तथा मनोहर एवं प्रभावपूर्ण सत्य धर्मोपदेशो द्वारा जैन धर्म की अत्यधिक प्रभावना की। धर्म ध्यान एवं धर्म प्रचार बहुत अधिक हुआ और आपस में प्रेम भाव तथा साम्य की वृद्धि हुई।

सम्वत् १६५६ में "एलम" जिला मुज़फ्फरनगर में चतुर्मास किया। इस चतुर्मास के प्रारम्भ होने से कुछ मास पूर्व ही वैशाख महीने के शुक्ल पक्ष में और इसी पवित्र क्षेत्र में बड़ी धूम-धाम के साथ आपके पास पं० श्री प्यारेलाल जी महाराज की दीक्षा हुई थी। इस दीक्षा उत्सव में करनाल शहर के सुप्रसिद्ध रईस गुरुभक्त श्रीमान् सेठ निरंजनलाल जी वैरागी श्री प्यारेलाल जी के दीक्षार्थ जलूस के लिए एक हाथी लाए थे अस्तु इसी हाथी पर जलूस बड़ी सुन्दरता के साथ नगर-कीर्तन के लिए चला था और इस जलूस के बीच में वैरागी जी पर चाँदी के रुपयों की मुक्तहस्त से वर्षा भी श्रीमान् सेठ निरंजन-लाल जी ने ही की थी।

श्री प्यारेलाल जी महाराज 'पंतखेड़ा' जिला आगरा के क्षत्री कुल भूषण श्रीमान् चौधरी कुमारपाल जी के सुन्दर सुरूप, सुकुमार एवं परम प्रिय सुपुत्र थे। आपको पूर्व पुण्योदय से बाल अवस्था में ही वैराग्य उत्पन्न हो गया था। होता भी क्यो नहीं—जब कि आपके पूज्य गुरुदेव को भी बालकाल में ही वैराग्य उत्पन्न हुआ था। अस्तु—पूज्य गुरुदेव श्री ऋषिराज जी महाराज ने भी आपको—आपके पिता से भी अधिक प्रेम

भाव के साथ विद्याध्ययन कराया था। और पूर्व पुण्योदय से आपकी स्मरण शक्ति भी बहुत ही तीव्र थी, यही कारण था कि आप भी अपने पूज्य गुरुदेव के समान स्वल्पकाल में ही धुरंधर विद्वान् हो गए थे। और जैन समाज को आप से बड़ी बड़ी आशाएँ थीं।

किन्तु अत्यन्त दुःख के साथ लिखना पडता है कि जहां आपने सर्व प्रकार की सुन्दरता, मधुरता, गम्भीरता, धीरता, वीरता, बुद्धि की तीव्रता, शीतलता एवं तेजस्विता आदि अनेक अन्य सभी सुन्दर सुन्दर गुण प्राप्त किये थे—वहां आयु बहुत ही थोडी प्राप्त की थी अर्थात्—आप युवा अवस्था में ही सम्वत १९६७ के ज्येष्ठ मास में—करनाल नगर में—अपने लघु गुरु भ्राता श्री श्यामलाल जी महाराज एव महा सती श्री दुर्गा जी तथा अन्य हजारों भव्य श्रावकों के देखते ही देखते स्वर्गधाम पधार गए। आपकी विमान यात्रा के समय दो दृश्य अति आश्चर्य जनक थे। जिनमें प्रथम तो आपके शोक स्वरूप तमाम शहर में पूर्ण हड़ताल का होना, और दूसरे अत्यत गर्मी के समय में भी आकाश में छोटी सी बदली बनकर फुवारों का पड़ना। ये दोनो अद्भुत दृश्य देख कर जनता ने यही अनुभव किया था कि—आकाश मडल में देवगण भी भूमंडल के मनुष्य वृन्द की तरह पडित श्री प्यारेलाल जी महाराज के स्वर्गवास का सोक मना रहा है। और शोक सन्तप्त जनता की तरह इन्द्र देवता भी अपनी अश्रु धाराएँ वहा रहा है। अतः करनाल की भक्त जनता आज तक भी उस दृश्य को स्मरण करती रहती है। अस्तु—पूज्य गुरुदेव श्री ऋषिराजजी महाराज ने एलम के श्रावकों की भक्ति पूर्ण प्रार्थना को मान देकर संवत् १९५६ का चतुर्मास भी एलम में ही किया और अपने सत्य धर्मोपदेशों

द्वारा धर्म, त्याग और तपस्या की पावन त्रिवेणी से भव्य जीवों के हृदयंगत पाप, ताप, रोग, शोक, कलह-ईर्ष्या, दुःख-दारिद्रय आदि-दूषणों को दूर किया।

संवत् १९५७ में "बिनौली" जिला मेरठ के लोगों ने आपसे बड़े विनीत भाव से इस वर्ष के चातुर्मास्य की विज्ञप्ति की थी, जो उन्होंने उनकी श्रद्धाभक्ति को जांच कर स्वीकार करली थी। बड़े उत्साह से धर्म प्रचार हुआ और श्रावक लोगों ने सामायिक-प्रतिक्रमण नवतत्त्व-छव्वीस द्वार, गतागति, दंडक-महादंडक, गुण ठाणाद्वार आदि स्तोक ज्ञान एवं जैनागमों के गम्भीर प्रकरणों के अर्थ-भावार्थ भी सीखे जिनको सीख कर श्रीमान् श्रावक लालचन्द जी, श्रीमान् श्रावक शेरसिंह जी, श्रीमान् श्रावक हरगुलाल जी आदि कितने ही श्रावक तो पंडित की पदवी प्राप्त कर चुके हैं। ये सब श्रावक आपके अनन्य भक्त हुए हैं।

सं० १९५८—में पुनः महाराज श्री ने करनाल में चातुर्मास्य किया और इस चतुर्मास में भी आपने दान, शील, तप भावना आदि भिन्न-भिन्न विषयों पर बड़े प्रभावशाली व्याख्यान दिये। साथ ही आपने कहा कि दान सुपात्र को देना चाहिए और प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार दान देना उचित है। जैसे भूखे को रोटी और नंगे को वस्त्र आदि देना चाहिए इसके विपरीत नहीं। दान की महत्ता को शास्त्रों के अनेक प्रमाणों से प्रकट किया। इस चतुर्मास में भी कुछ गृहस्थों ने एक बहुत बड़ी सफेद ज़मीन धर्मार्थ जैन पञ्चायत को दान दे दी थी किन्तु जैन पञ्चायत अपनी अव्यवस्था के कारण उस जगह को सदुपयोग में न ला सकी।

सं० १९५९—में "काछुवा" जिला करनाल में एक बार फिर आपने चातुर्मास्य किया और अपने प्रभावशाली पवित्र

प्रवचनों से जनता को लाभ पहुँचाया। जिनमें जैन शास्त्रों में कथित नवतत्त्वो की विस्तृत व्याख्या की अर्थात् जीव, अजीव, पुण्य, पाप आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष के भेद बतला कर इनके लक्षण उदाहरणों के साथ वर्णन किये। मोक्ष पर आपका भाषण अत्यन्त मनोहर था, श्रोतागणों के मन में ऐसा भान होता था कि मानों महाराज श्री उनको अपने हाथ से पकड़ कर मोक्षधाम की तरफ ले जा रहे हैं या धर्म रूपी नैया में बिठा कर ससार सागर से पार कर रहे हैं या धर्म रूपी वायुयान में बिठला कर उन्हे उड़ाये ले जा रहे है।

सवत् १६६० में "बड़सत" जिला करनाल में फिर आपका चातुर्मास्य हुआ। शुद्ध विचारों और सद्भावनाओं पर आप ने बडे व्याख्यान दिये। अनेक प्रकार की भावनाएँ बतलाते हुए आपने कहा कि मनुष्य को शास्त्रोक्त भावनाओं पर सदा चिन्तन करना चाहिए। निम्नलिखित भावनाओ का आपने विस्तृत वर्णन किया।

(१) एकत्व भावना—अर्थात् "इस ससार में मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है और न मैं किसी का हूँ, ऐसा भी कोई व्यक्ति दिखाई नही देता जो भविष्य में मेरा होने वाला हो अथवा मैं जिस का बन सकूँ।" इस विषय को आपने जैन शास्त्रों के

एगोह नत्थि मे कोई, नाहमन्नस्स कस्सई।
एव अदीण मणसा, अप्पाण मणु सासए॥

इत्यादि अनेक मूल पाठ बता कर परिपुष्ट किया।

(२) अनित्य भावना—"अर्थात् यह पञ्चभौतिक शरीर विघ्नबाधाओ एव रोगों का स्थान है, सम्पत्ति, विपत्ति का स्थान है, संयोग के साथ वियोग, उत्पत्ति के साथ नाश अर्थात् जन्म के साथ मरण अवश्यम्भावी लगा रहता है"। इस लिए

इस संसार के समस्त भौतिक पदार्थ नश्वर हैं। अतः इनमें कभी नहीं फँसना चाहिए।

✓(३) अशरण भावना—अर्थात् जन्म, जरा, मृत्यु के भय से पीडित व्याधि एवं वेदनाओं से व्यथित इस संसार में बिना जिनेन्द्र भगवान् के प्रवचन के और उनके कथित संयम मार्ग के और कोई त्राणरूप नहीं है।

✓(४) ससार भावना—अर्थात् इस संसार में वही जीव कभी माता, कभी पिता, कभी बहन, कभी भाई, कभी स्त्री, कभी पुत्र,-कभी मित्र और कभी शत्रु बन जाता है। अतः जो भव्य प्राणी इन भावनाओं पर विचार करता रहेगा, वह इस ससार के मोह में लिप्त नहीं होगा। अन्यथा वह इस संसार रूपी सागर में गोते खाता रहेगा।

संवत् १९६१ में करनाल नगर में महाराज श्री ने फिर चातुर्मास्य किया। वहाँ भी आपने मनः शुद्धि और आत्मबल पर अनेक व्याख्यान दिये। इस स्थान पर भी आपने दूसरी चार भावनाओं की व्याख्या की। जो इस प्रकार से हैं—

✓(१) मैत्री भावना—अर्थात् विश्व के समस्त प्राणियों के साथ मित्रवत् प्रेम और प्रीति का व्यवहार करना और वैर भाव का परित्याग करना चाहिए। अस्तु—सबको मित्र दृष्टि से देखना और द्वेष को निकट न आने देना ही श्रेयस्कर है।

✓(२) प्रमोद भावना—अर्थात् अधिक गुण सम्पन्न महापुरुषों को देखकर आनन्दित होना और उनके मान पूजा, सत्कार आदि को देखकर हर्षित होना—एवं दूसरों को उन्नत देखकर प्रसन्न होना चाहिए।

✓(३) करुणा भावना—अर्थात् शारीरिक, एवं मानसिक

दु:खो से दुखित जीवों से सहानुभूति करना और ऐसे प्राणियों के दु:ख को दूर करने की और उनको सुख पहुंचाने की इच्छा करना चाहिए।

✓ (४) माध्यस्थ भावना—अर्थात्, रुचिकर तथा अरुचिकर पदार्थ, प्रिय तथा अप्रिय वस्तुएँ एवं इष्ट अनिष्ट मानवों के संयोग हो जाने पर या ऐसे ही वियोग में राग, द्वेष न करना, इस विषय पर आपने कई दिनों तक भाषण दिये और सब श्रोताओं के मन में प्रेम और शान्ति की तरंगे उभारीं।

संवत् १९६२ में फिर "काछुवे" जिला करनाल में चातुर्मास्य किया। यहाँ पर आपने गृहस्थ धर्म पर कई दिन व्याख्यान दिये। पति पत्नी के उच्च संबंध को समझाया। माता पिता तथा संतान के सब स्व स्व धर्म और कर्त्तव्य बताए फिर गृहस्थ-धर्म तथा साधु-धर्म के भेद बताए और ज्ञान पर विशेष भाषण दिये। आपने कहा कि ज्ञान ही आत्मा की विशेष शक्ति है, ज्ञान ही आत्मा का असाधारण लक्षण भी है। संसार में पाए जाने वाले सभी पदार्थों में से केवल जीव पदार्थ में ही ज्ञान पाया जाता है किन्तु खेद का विषय है कि आज का मनुष्य अपनी कुवासनाओं और कुक्रियाओं के कारण ज्ञान के स्थान में अज्ञान की शरण ले रहा है। वह सच्चे ज्ञान के भाव को समझने में ही असमर्थ है।

सम्वत् १९६३ में "बड़सत" जिला करनाल में एक बार फिर वहाँ वालों की आग्रहपूर्ण विनती पर आपका चातुर्मास्य हुआ, बड़ा धर्म लाभ और बहुत धर्म ध्यान हुआ। यहाँ पर आपके पवित्र प्रवचनों में बहुत से प्रतिष्ठित सैयद, मुसलमान भाई भी आया करते थे और बड़ी श्रद्धाभक्ति के साथ आपके वचनामृत का पान करते थे। कितने ही संयद

भाइयों ने तो मुसलमान होते हुए भी आपके सत्य धर्मोपदेश को श्रवण करके आजीवन शिकार एवं माँस का परित्याग कर दिया था। इस चतुर्मास में आपने अनेक विषयो पर व्याख्यान दिये थे किन्तु विशेषतया शिष्टाचार पर व्याख्यान दिये और संसार की असारता पर भी कई दिन तक भाषण होते रहे।

संवत् १९६४ में भिंझाणा जिला मुजफ्फर नगर में चातुर्मास्य किया। यह चातुर्मास्य आपका अन्तिम चातुर्मास्य था, जो भिंझाणा नगर में वड़ी विशेषता के साथ सम्पन्न हुआ। ऐसा प्रतीत होता था कि मानो महाराज श्री को अपने स्वर्गवास सम्बन्धी काल का ज्ञान हो गया था। क्योंकि आपने इस चातुर्मास्य में जितने व्याख्यान दिये वे सब मृत्यु के अटल होने और आत्म सुधार पर ही दिये थे। साथ ही संसार की अनित्यता को भी भली-भाँति दर्शाया था और शीघ्रातिशीघ्र मानव भव सफल करने का संकेत दिया था।

इसी प्रकार जूडला भी आपका खास क्षेत्र है। यहाँ पर भी आपने शेष काल में कितनी ही बार बहुत से कल्प करके उपदेशामृत पिलाया है और बड़ी-बड़ी कृपाएँ की हैं। यहाँ के ला० खूबनलाल जी, ला० वेहूमल जी, ला० प्रभुदयाल जी, ला० रहतुमल जी आदि सभी श्रावक आपके खास शिष्य थे और इसलिए आपसे उनका विशेष प्रेम भाव था। इसी प्रकार परासौली, सैनपुर और मिललावली में भी आपने बहुत से कल्प किये हैं। यहाँ पर भी आपकी बहुत कृपा रही है।

अस्तु—त्याग मूर्ति चारित्र चूड़ामणी पंडित रत्न पूज्य गुरुदेव श्री श्री १००८ श्री स्वामी ऋषिराज जी महाराज विहार

करते हुए जहां भी पधारते थे वहां की भक्त जनता में आनन्द की सीमा नहीं रहती थी। घर जनता बड़ी श्रद्धा भक्ति से गणराज श्री का स्वागत करती थी। और सम्मान पूर्वक नगर में ले जाती थी। नगर के बाहर ही हजारों भक्त गण उनके पधारने की सूचना पाकर बड़े उत्साह, प्रेम और आदर के साथ ले जाते थे। जन समूह आपके पीछे पीछे भगवान महावीर की तथा आपकी जय जय के घोष करता हुआ चलता था। उनके विराजमान हो जाने पर धर्म उपदेश प्रारम्भ हो जाते थे। वे उपदेश इतने मंगलमय और ओजस्वी होते थे कि उनकी सर्वत्र धूम मच जाती थी। झुंड के झुंड नर नारी प्रात सायं उनके उपदेश श्रवणार्थ एकत्रित होते थे। ऐसे वीत-रागी सन्त के पावन प्रवचन सुन कर नगर निवासी अपने भाग्य की सराहना करने लगते थे।

स्थान स्थान से आपकी सेवा में चातुर्मास्य करने की विनती पहुचती थी और वह इन लोगो की प्रेम भरी वाणी और विनम्र युक्त आग्रह को काल और स्थिति के अनुसार स्वीकार कर लेते थे। उनके उपदेशामृत को पान करने के लिए जैन और अजैन जनता बड़ी सख्या में उपस्थित हुआ करती थी। इन व्याख्यानो में मुनिराज के पवित्र मुख-निर्झर से अजस्र, शान्त, निर्मल उपदेश रूप वारिधारा प्रवाहित होने लगती थी जिसमें मानव-समाज के मन को कलुषित करने वाले राग-द्वेष, ईर्षा आदि विकार धुल जाते थे। अनेक भक्त अपनी अपनी शंकायें और समस्याये गुरुदेव के सन्मुख रखते थे और वे गुरुदेव श्रद्धालुओं तथा ज्ञान पिपासुओं की इन शंकाओं का समाधान बड़ी शान्ति और सरलता से कर दिया करते थे। इस प्रकार आप अपने उपदेश, आदर्श जीवन-चरित्र, उत्तम सत्संग

उच्च कोटि की तपस्या एवं भजन-भाव के द्वारा भावुक श्रावकों का परम कल्याण करते थे।

जहाँ जहाँ महाराज श्री पधारते थे और जब तक वहाँ विराज-मान रहते थे तब तक वहाँ के जैन समाज में त्याग, तपस्या, धर्मध्यान और व्रत पोषध आदि बहुत अच्छी संख्या में होते रहते थे वहाँ के लोगों को ऐसा भान होने लगता था कि मानो वे धर्मध्यान त्याग और तपस्या की त्रिवेणी में अवगाहन करते हुए अपना कल्मष धोकर शान्तिमय जीवन व्यतीत कर रहे हों। पर्यूषण पर्व में तो इस प्रकार का उत्साह रहता था कि जैनेतर जनता भी महाराज श्री ऋषिराज जी के पवित्र जीवन तथा पुनीत प्रवचन के प्रभाव से अतीव प्रभावित हो कर उनकी भूरि भूरि प्रशंसा एवं स्तुति करने लगते थे।

आपकी वाणी और आपके चारित्र का शुभ प्रभाव प्रत्येक नर नारी पर पड़ता था। सभी लोग आपकी शान्त मुद्रा के दर्शनों के अभिलाषी रहते थे। आपका पवित्र प्रवचन श्रवण करने के लिये तो वे सदा लालायित और उत्सुक ही रहते थे।

महाराज श्री की कवित्व शक्ति तथा रचनाएँ

यह तो पूर्व बताया जा चुका है कि श्री ऋषिराजजी महाराज विद्या के भण्डार थे। ज्ञान की निधि थे। आपने अपने गुरुदेव के पुनीत चरणों में बैठकर पूरी तल्लीनता से समस्त प्रामाणिक ३२ जैनागमों का पूर्णतया अध्ययन किया था और वह भी साधारण रूप से नहीं किया था अपितु व्याकरण, काव्य, कोष, छन्द, अलंङ्कार के साथ किया था और फिर उस पर भी विशेषता यह थी कि आपको बहुत से सूत्र तो कंठस्थ थे। इसी कारण उन्हे सूत्रों के सूक्ष्म से सूक्ष्म रहस्य का ज्ञान हो गया था। हम निस्संकोच कह सकते हैं कि आप जैन फिलासफी के पूर्ण पण्डित थे। इसलिये शास्त्र चर्चा में वे प्रतिवादी को स्वल्पकाल में ही निरुत्तर कर देते थे।

प्राय विद्वानो में यह संयोग अति दुर्लभ होता है कि वह वक्ता भी हो और लेखक भी हो। आपके अन्दर यह विलक्षणता थी कि जहाँ आपका प्रवचन अत्यन्त प्रभावशाली और उत्कृष्ट था वहाँ आपकी लेखनी में भी बड़ा बल था। आपने बहुत से ग्रन्थो की रचना की है जिनका नाम निर्देश एवं वर्णन अन्यत्र हो चुका है। आप केवल गद्य के ही लेखक न थे प्रत्युत आप एक उत्कृष्ट कवि भी थे। आपकी कविताओं में विशेष रस होता था और एक-एक पंक्ति से जैन धर्म के मूल सिद्धान्तो का रस टपकता था। उनका एक-एक शब्द शिक्षा युक्त और पथ प्रदर्शक होता था आपने बहुत-सी कविताओं का निर्माण किया, किन्तु वे सारी प्रकाशित नहीं हो सकी। उनमें से कुछ दिग्दर्शन मात्र यहाँ पाठको के लाभ के लिये उल्लेख की जाती

हैं। हाँ यह कवितायें प्रायः राजस्थान की हिन्दी भाषा में हैं। क्योंकि महाराज श्री ने अधिकतर इन लोगों में प्रचार किया था इसलिये इन मूल कविताओं का सौन्दर्य और पूर्ण रस वे ही लोग पूर्णतया पान कर सकते हैं जो इस भाषा से भली प्रकार परिचित हों।

अस्तु—यहाँ पर जो एक कविता दिग्दर्शन मात्र दी जाती है, यह महाराज श्री ने सम्वत् १९४४ के "निरपड़ा" जिला मेरठ के चतुर्मास में साधु के दश धर्मों का स्वरूप दर्शाने के लिए की थी। जो झूलणे और दोहों की रंगत में गाई जाती है। सो देखिए—

दोहा—शिव सुख दायक जिन चरण, नमता होय कल्याण।
मुनि के दश लक्षण कहूँ, दो वाणी वरदान ॥१॥

झूलणा

अजी दो वाणी वरदान के, मान जो सेवग ने सुखकारी जी,
तुमरी कीरत अब मुख से गाऊँ, सुनो सहु नर नारी जी।
अष्ट कर्म को जीत लिए तुम, हुए शुद्ध आचारी जी
ऋषिराज कहैं मैं वेकर जोड़ूँ, तुम हो गुण के धारी जी ॥२॥

दोहा—अतिशय चौतिस के धणी, वाणी गुण पैंतीस।
एक सहस्र आठ लक्षणे, तुम तन शोभे ईश ॥३॥

झूलणा

अजी तुम तन शोभे ईश के, निश दिन सुरपत सेवा सारे जी
इस भवोदधि के बीच तुम्हारो, नाम तणो आधारो जी।
तिरण तारण तुम हो जग स्वामी, की जो सेवा पारो जी,
ऋषिराज कहै मैं, तुम परसादे, कहूँ धर्म सुविचारो जी ॥४॥

दोहा—वीतराग के वचन में, दश विध धर्म बखान।
इनका अब वर्णन करूँ, सुनो चतुर दे ध्यान ॥५॥

भूलणा

अजी सुनो चतुर दे ध्यान के, ध्यान जो निर्मल होवे थारा जी
तुम धर्म भावना धर कर मन में, करे ज्यूं शुद्ध विचारा जी।
नरक देव तिरजंच मनुप में, भमता अंत न पारा जी,
ऋपिराज कहै अब धर्म रतन कोई पुण्य उदै से धारा जी ॥६॥

दोहा—मनुष्य जनम अब पाय के, सुफल करे हित आन।
दुर्गति के दु:ख से डरो, तजो मिथ्या अज्ञान ॥७॥

भूलणा

अजी तजो मिथ्या अज्ञान के, ज्ञान दिल अंतर माँहि विचारो जी,
ये नर भव रतन चिंता मणी सम, तुम कुमति संग मति हारोजी।
सुमति भाव से विरत आराधो, अरु समकित तो सुख कारो जी,
ऋपिराज कहे धन जिन वाणी को, जिस तैं हो निस्तारो जी॥८॥

दोहा—तारण तिरण मुनीश्वर, छै काया के नाथ।
पाँचौ इन्द्री वश करें, टाले मोह मिथ्यात ॥९॥

भूलणा

अजी टाले मोह मिथ्या के, साथ कुटुम्ब का तिन त्यागा है,
तन मन को वश कर धरे ध्यान, मुनि मुक्त पथ चित्त लागा है।
दया करत हैं सब जीवो की, तिन कुमति से मन भागा है,
ऋषिराज कहै धन ते मुनि वर को, जो मोह नीद से जागा है॥१०॥

दोहा—पहिला लक्षण धर्म का, सुनो सभी चित लाय।
मुक्ति पथ साधन तणा, कह्या श्री जिन राय ॥११॥

भूलणा

अजी कह्या श्री जिन राय के, लायक भव जीवों के तोंई जी,
"क्षमा" धर्म की करी बड़ाई, प्रथम मुनि के माई जी।
कठिन वचन लोगों के सुन के, क्षमा करे सुख दाई जी ॥
ऋषिराज कहै धन ते मुनि वर को, शिवरमणी जिन पाई जी॥१२॥

दोहा—क्रोध अगन शीतल करे, धरे क्षमा परिणाम ।
आतम गुण आराधता, पामें अविचल ठाम ॥१३॥

झूलणा

अजी पामें अविचल ठाम के, तामस मन का जिन सब मारा है,
अरि मित्तर जाने एक सरीखे, तब समण विरत गुण धारा है।
जोकंचन कांच बराबर जाने, चाकर ठाकर इक सारा है,
ऋषिराज कहे यह प्रथम लक्षण धारत मुनि सुख कारा है॥१४॥

दोहा—दूजा लक्षण मुनि तणा, कह्या आप भगवान ।
श्रोता जन सुण जा हिवे, मन में धर के ज्ञान ॥१५॥

झूलणा

अजी मन में धर के ज्ञान के, जानत जिन वाणी को सुखदाई जी
तो तजे जगत से लोभ महा मुनि, ते जाने दुर्गति की साई जी।
मात पिता नारी सुत ममता, त्यागे चित में समझाई जी,
ऋषिराज कहे मुनिवर ते, बैठे जिन वचनों चितलाई जी॥१६॥

दोहा—अब तीजा लक्षण कहूँ, आगम के परिमाण ।
भवि जन इक चित सांभलो, जिन वाणी हित आण॥१७॥

झूलणा

अजी जिन वाणी हित आण के, मानव भव भव में सुखकारी है,
अथिर जाण संसार जगत में, मुनि महाव्रत धारी है,
जिन आज्ञा परिमाण करी, मुनि 'कपटाई' दूर निवारी है।
ऋषिराज कहे किया सरल भाव, जिन आतम को निस्तारी है॥१८॥

दोहा—भवि जन कपटाई तजो, सरल भाव मन राख।
धर्म ध्यान चित लाइये, जिन वाणी रस चाख॥१९॥

झूलणा

अजी जिन-वाणी रस चाख के, भापत मुख से मीठी वाणी जी,
कर्म मैल को दूर करत है, मुनि आतम ने हित जाणी जी।

जप तप करके जो पूर्व भव के, कर्म हटे दुःख दानी जी,
ऋषिराज कहै तब ते शिवपुर पावे, जग में उत्तम प्राणीजी॥२०॥

दोहा—चौथा लक्षण मुनि तणा, कह्या श्री भगवंत।
भवि जन अब तुम साभलो, राखी मन एकंत॥२१॥

झूलणा

अजी राखी मन एकत के, भ्रान्त सब दूर करो भव प्राणी जी,
"मद" आठ तजो मन अपने से, ये खोटी गति के दानी जी।
मान त्याग के विनय करे मुनि, ते जग में कहिये ज्ञानी जी,
ऋषिराज कहै जे शिव पद साये, मुनिवर आतम ध्यानीजी॥२२॥

दोहा—शुद्ध सजम मुनिवर धरे, करे नही अभिमान।
ज्ञान दर्शन चारित्र तप, इनमें राखे ध्यान॥२३॥

झूलणा

अजी इनमें राखे ध्यान के, दान अभय जिन दीना है,
करुणा करते हैं सब जीवो पर, तत्व धर्म जिन लीना है।
ज्ञानादिक गुण का मद नहीं आणे, क्रिया मॉहि परवीणा है,
ऋषिराज कहै मुनि अथिर जान जग उत्तम कार्य कीना है॥२४॥

दोहा—पॉचो इन्द्री वश करें, पालें शुद्ध आचार।
तिनका लक्षण पॉचमॉ, सुनो सहु नर नार॥२५॥

झूलणा

अजी सुनो सहु नर नार के, तारक मुनि महाव्रत धारी जी,
वस्त्र पात्र हलके राखे, त्यागें बहु मोला भारी जी।
राग द्वेप और हास्य रता रति, जिन मोह-दशा को टारीजी,
ऋषिराज कहैं धन उनकी करणी, जिन तनसे ममता निवारीजी॥२६॥

दोहा—छै काया के नाथ जी, छट्ठा लक्षण धार।
नाम कहूँ अब तेहना, भवि जन सुनो विचार॥२७॥

झूलणा

अजी भवि जन सुनो विचार के, सार वचन जग सत्य वानी जी,
झूठी भाषा टाले मुनिवर, सत्य कहे हितु आणी जी।
कोई नर खड्गादिक मारे, होकर दुष्ट अज्ञानी जी,
ऋषिराज कहै तहुं झूठ न बोले, दोष असत का जानी जी ।।२८।।

दोहा—अब कहूँ लक्षण सातमां, सुनो सभी हित लाय।
संजम सतरें भेद का, पाले श्री मुनिराय ।।२६।।

झूलणा

अजी पालें श्री मुनिराय के, राज मुक्ति का ते मुनि पावे जी,
धर ध्यान जतन से संजम साधे, जीव दया मन भावे जी।
पाँचों थावर चार तरस का, संजम जिन जी बतलावें जी,
ऋषिराज कहै ये नव प्रकारे, संजम तो मन भावे जी ।।३०।।

दोहा—जतना वसतर पातर की, लेई धरे मुनि आप।
पड़िलेहन विधि आदरें, संजम में मन थाप ।।३१।।

झूलणा

अजी संजम में मन थाप के, आप मुनि चित्त न लावे जी,
परि ठवणे की विधि सुख देखे, दया धर्म मन भावे जी।
पात्रादिक को आछी विध करके, देखत धर्म कहावे जी,
ऋषिराज कहै मन वचन काया करी, ये सतरा संजम थावे जी ।।३२

दोहा—अब मुनि लक्षण आठमा, सुनिये मन धर ज्ञान,
बारा भेदी तप तपें, तिस का करूँ बखान ।।३३।।

झूलणा

अजी तिसका करूँ बखान के, ज्ञान वान मुनि तप साधै हैं,
धरे नहीं देही पर ममता, जिन आज्ञा आराधै हैं।

पाँचों इन्द्री जीत करे वस मन, तो ज्ञान धर्म अति वाधे हैं,
ऋषिराज कहै ते मुनिवर जग में, शिव पदवी को लाधें हैं ॥३४॥

दोहा—अनसन और उनोदरी, भिक्षाचरी परिमाण ।
रस परि त्याग मुनि करे, कायकलेश वखाण ॥३५॥

झूलणा

अजी कायक्लेश वखान के, पड़ीसंलेहन जाणो जी,
प्रायश्चित और विनय वियावच, सिझाय ध्यान मन आणो जी ।
द्वादश मा तप विउसग्ग मुनिवर का, श्री जिनराज वखाणों जी,
ऋषिराज कहै ये तप आराधें, पावैं कोड़ कल्याणो जी ॥३६॥

दोहा—नोमा लक्षण अव कहूँ, सुनिये भविजन लोग ।
ज्ञान धर्म चित्त में वसें, जब मुनि साधे जोग ॥३७॥

झूलणा

अजी जब मुनि साधे जोगके, भोग तजे दुःख दाई जी,
समकित ज्ञान करी सहु जाणे, जो क्रिया जिन बतलाई जी ।
आप तिरे औरों को त्यारें, समकित का रस पाई जी,
ऋषिराज कहै जो ज्ञान सहित मुनि, शिव रमणी को जाई जी॥३८

दोहा—दश में लक्षण में मुनि, पाले शील रतन ।
सब विरतो में मोटका, वश कर राखें मन ॥३९॥

झूलणा

अजी वस कर राखे मन के, तन साधक गुण धारी है,
निंदा विकथा दूर तजें मुनि, सुध मारग सुविचारी है ।
सुध बुध करके बहु जीवों की, दुर्गति को दूर निवारी है,
ऋषिराज कहै ये दश लक्षण मुनि के, आतम गुण हितकारी है॥४०॥

दोहा—दश लक्षण मुनि झूलणे, दोहे सहित वखाण ।
कहे निर घडे ग्राम में, जिन आज्ञा परिमाण ॥४१॥

झूलना

अर्जी जिन आज्ञा परिमाण के, ज्ञान करि समझे उत्तम प्राणीजी,
अशुभ कर्म को टालि होवे, ते नर अमर विमाणी जी।
सम्वत् उन्नीसैं चुवालिस भादों, शुक्ल तीज वखाणी जी,
ऋषिराज कहै भवि जीव आराधो श्री जिन वरकी वाणी जी।।४२।।

इसी प्रकार महाराज श्री ने एक से एक सुन्दर शिक्षाप्रद हजारों भावपूर्ण पद्यों की रचनाएँ की हैं। जिनमें से एक तो ऊपर दी जा चुकी है और दूसरी एक छोटी सी रचना और भी आगे दी जाती है जो प्रायः मल्हार राग में गाई जाती है। इसमें भव्य आत्मा को उद्बोधन करने के लिए कहा गया है कि—चौरासी लाख जीव योनियों में अनन्त काल से भटकते हुए इस पामर आत्मा को अत्यन्त पुण्योदय से अब देव दुर्लभ पुण्यभूमि भारत में मनुष्य का उत्तम शरीर पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से परिपूर्ण प्राप्त हुआ है। देवता भी जिसके लिए तरसते हैं वह नर भव तुझको मिल चुका है। अतः इस नर भव को "ज्ञान, दर्शन, चारित्र, रूप रत्नत्रय की आराधना करके एवं अहिंसा, सत्य, अदत्त, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि महाव्रतों का सम्यक्तया पालन करके तथा क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय चतुष्टय को जीत कर दया, परोपकार आदि धर्म द्वारा पूर्ण सफल कर लेना चाहिए। जिससे फिर कभी भी चौरासी के चक्कर में भटकना न पड़े और अनन्त काल तक स्थिर रहने वाले अनन्त सुखों को प्राप्त कर सके। अस्तु, कविता को देखिए किस प्रकार महाराज श्री ने अपनी प्रतिभापूर्ण कवित्व-शक्ति से कितने गंभीर विषय को छोटे से पद्य में गुंथन करके "गागर में सागर" भर दिया है—

मनुष्य जनम पाया भला, पाया आरज देश ।
उत्तम कुल अरु तन भला, पूर्व पुण्य विशेष ॥म० १॥
सम दृष्टी जे देवता, भावे भावन सार ।
मानुष भव जो हम लहे, पालें धर्म उदार ॥म० २॥
चौरासी में भरमता, पाया दुःख अपार ।
अब तो धर्म सभाल ले, यह पर भव को आधार ॥म० ३॥
नरक तणी वेदन सही, कहत न आवे जी पार ।
अनत काल तिरजच नी, गत दुख नी दातार ॥म० ४॥
मनुष्य तणी गति ऊजली, पाई सुख दातार ।
धर्म करी सुर गति लही, तिहाँ नित जे जे कार ॥म० ५॥
अमर कहे कर जोड के, थए हमारे देव ।
कौन धर्म तुम आदर्यो, और किस गुरु की सेव ॥म० ६॥
जिन आज्ञा धर्म आदर्यो, जाण्या तत्त्व विचार ।
सुगुरु चरण नित भेटिया, तिन थी इहाँ अवतार ॥म० ७॥
सुख भोगे तिहा देवता, वरस जो दश हजार ।
वरत जायें मृत्यु लोक के, तब इक नाटक त्यार ॥म० ८॥
जिन भक्ति बहु सुर करे, सरधे श्री जिन वाण ।
मनुष्य जनम भव लेइके, पावे पद निर्वाण ॥म० ६॥
सम्वत् उन्नीसैं बावने, भाद्रव पूरण मास ।
चड़सत में ऋषिराय जी, यह उपदेश प्रकाश ॥म० १०॥

रुग्णावस्था

श्री ऋषिराज जी महाराज ने स० १६२६ के मंगशिर मास की कृष्णा अष्टमी मंगलवार के दिन दीक्षा ली थी। ३८ वर्ष २४ दिन तक आपने अपनी साधुवृत्ति पूर्णरूपेण पालन की। आप का अन्तिम चातुर्मास्य "झिझाणा" जिला मुजफ्फरनगर में था। वहीं पर आप रोग ग्रस्त हो गये। रोग का कई प्रकार से उचित प्रतिकार किये जाने पर भी वह शान्त न हुआ। रोग ने अत्यन्त क्षीण कर दिये, किन्तु वेदना होने पर भी साहस बाँधे रहते थे। आपका धैर्य तथा उत्साह बड़ा ही प्रबल था। रुग्णावस्था में आप कहा करते थे कि—

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि,
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

अर्थात् सैकड़ों करोड़ों कल्प बीत जाने पर भी बिना भोगे कर्म का नाश नहीं होता। जो भले या बुरे कर्म किये हैं उनका फल अवश्य ही भोगना पड़ता है। कबीर साहब ने भी कहा है कि—

कबीर करनी आपणी कबहुं न निष्फल जाय।
सात समुद्र आड़ा पड़ें मिले अगाऊ आय॥

गोस्वामी श्री तुलसीदास जी का भी कथन है कि—

कर्म प्रधान विश्व कर राखा,
जो जस करे सो तस फल चाखा।

कर्म जीव को सैकड़ों तथा सहस्रों वर्ष बीत जाने पर भी

अपने कर्त्ता को झट पहचान लेते हैं। और व्यासकृत महाभारत के शान्ति पर्व में भी लिखा है कि—

यथा धेनु सहस्त्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्त्तारमनुगच्छति ॥

अर्थात्—जैसे एक बछड़ा हजारों गौओं में भी अपनी माता को पहचान लेता है उसी प्रकार से वे कर्म भी जो पहले किये गये हैं, अपने कर्त्ता को प्राप्त करते हैं।

इत्यादि शास्त्र वाक्यों का स्मरण तथा चिन्तन करते हुए महाराज श्री ने रुग्णावस्था में भी अपने धैर्य तथा शान्ति को नहीं छोड़ा अपितु सदैव शान्त चित्त रहते हुए रोग की वेदना को हर्ष पूर्वक सहन किया। उनके मुखारविन्द से कभी 'हाय' नहीं सुनी। सदैव पञ्च परमेष्ठी महामंत्र श्री नवकार मंत्र का जाप उन की जिह्वा पर रहता था। वैसे भी आपको हमेशा आनु पूर्वी का जाप बहुत ही प्रिय लगता था एव नित्य प्रति आनु पूर्वी का जाप करते रहते थे किन्तु जब से आपने करनाल में अपनी आँखों की चिकित्सा कराई थी तब से डॉक्टर के अति आग्रह पूर्वक मना करने से केवल "कर सुमरणी" पर ही श्री नवकार मत्र का जाप करने लगे थे। अस्तु-आप को रात दिन केवल नवकार मत्र का ही चितन मनन पूवक ध्यान रहता था।

धीरे धीरे रोग बढता गया, उसकी वेदना की मात्रा भी उसी अंश में अधिक होती गई किन्तु आप के मुख की शान्त मुद्रा तथा आप के ओष्ठों की स्वाभाविक मुस्कान में कोई अन्तर प्रतीत न होता था और मुख की अनुपम कान्ति पूर्ववत् स्थिर थी। अपने ही कर्मों का भोग जान कर आप इस व्याधि काल की सम्पूर्ण वेदना को पूर्ण धैर्य तथा शान्ति से सहर्ष सहन कर रहे

थे। आप अपना नित्य नियम बराबर करते थे। उसमें कोई विघ्न न पड़ने देते थे। जब श्रावक वर्ग तथा अन्य श्रद्धालु भक्त आपकी ऐसी अवस्था को देख कर व्याकुलता तथा निराशता प्रकट करते थे तो आप स्वयं धीर रह कर उन्हे धैर्य बँधाते थे और कहते थे कि चिन्ता तो उसकी करनी चाहिये जो अनहोनी हो। कर्म भोग भी अवश्य भोगना पड़ता है और होनहार भी अटल होती है इसलिए तुम्हे पूर्ण धर्य धारण करके अपने कर्तव्य की ओर ध्यान देना चाहिए। जब चौबीस तीर्थङ्कर भगवान भी होनहार को नहीं टाल सके हैं तो हम उससे कैसे बच सकते हैं। हम ने आयु पर्यन्त आप लोगों को यही तो शिक्षा दी है कि दुःख के समय बेचैन न होकर शान्त रहना चाहिये। कष्टों एवं क्लेशों के सन्मुख झुकना नहीं चाहिए वरन् वीर धीर बन कर उनका सामना करना चाहिए। दुःख के समय को पूर्ण शान्तता से निकालना चाहिये। यदि तुम इस समय अधीर बन रहे हो तो उन सारी शिक्षाओं का क्या लाभ हुआ? धर्म और धैर्य भावना आपदाओं के समय ही तो देखी जाती है इसी लिए एक हिन्दी कवि ने कहा है

धीरज धर्म मित्र अरु नारी।
विपद समय परखिये चारी॥

इसलिए तुमको भी उचित है कि पूर्णतया शान्त रह कर पञ्च परमेष्ठी महामन्त्र श्री नवकार मन्त्र का जाप करो। वह महामन्त्र ही तीन प्रकार के दुःखों को हरनेवाला है। इसी के बल से मन में बल आता है।

फिर महाराज श्री ने उन लोगों को समझाते हुए कहा कि कोई एक ऐसा जीव बताओ जो संसार में आकर यहाँ से गया न हो। यह शरीर तो नाशवान है ही। इसकी ओर हमें

इतना ध्यान न देना चाहिये। हमें तो अपनी आत्मा की ओर समस्त ध्यान देना चाहिये। जिसने अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त करली उसने मानो एक महायुद्ध में सहस्रों योधाओं पर विजय प्राप्त करली। इसलिए न तो तुम लोग मेरे इस विनाशी शरीर की चिन्ता करो, न ही अपनी क्षणभगुर काया की फिकर करो। अपितु भगवान् महावीर स्वामी के बताये हुये दया और प्रेम के मार्ग पर गमन करते हुए अपना कल्याण करो। भगवान् वर्द्धमान के पुनीत प्रवचन से अधिक आपका कोई पथ-प्रदर्शक, सहायक तथा आधार नहीं बन सकता। उसी पावन प्रवचन का अनुसरण करते हुए अपने जीवन को उच्च बनाओ। यह समय तो दौड़ा जा रहा है। सबका काल भागा हुआ उसकी ओर आ रहा है। अस्तु तुम मेरी चिन्ता त्याग कर भगवच्चिन्तन करो।

महाराज श्री ने फिर उन लोगों को धैर्य बंधाते हुए कहा, कि अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त करो और श्री जिनेश्वरदेव का प्रेम मार्ग ग्रहण करो। देखो उन्होंने कैसे-कैसे कष्ट सहन किये हैं और कैसे स्पष्ट शब्दों में कहा है कि—

समिक्ख पण्डिए तम्हा, पास जाइपहे बहू
अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मेत्तिं भुएसु कप्पए

अर्थात्—इसीलिए पण्डित पुरुष एकेन्द्रियादि पाश रूप बहुत प्रकार के जाति पथों का विचार करके अपने आत्मा के सत्य का अन्वेषण करे और समस्त जीवों से मित्रता का सम्बन्ध रक्खे। (उत्त० ६–२)

और भी कहा है कि—

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिए
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ

अर्थात्—दुर्जय संग्राम में दस लाख सुभटों को जीतने वाले की अपेक्षा एक आत्मा को जीतने वाला अधिक बली है। तथा उसकी यह विजय सर्वोत्कृष्ट विजय है।

(उत्त० ९–३४)

यह सूत्र प्रमाण सुनाकर महाराज श्री ने फिर उन्हें कहा कि यदि तुम इस समय अधीर हो जाओगे तो फिर भगवान् के सच्चे अनुयायी कैसे कहलाओगे। भगवान् न केवल वीर थे अपितु महावीर थे और उनकी अभिलाषा थी कि उनका कथित संयम धर्म ग्रहण करने वाले भी संसार में सच्चे वीर बनें और यह तभी हो सकता है, कि जब धैर्य धारण करके अपनी आत्मा को अन्वेषण करता है।
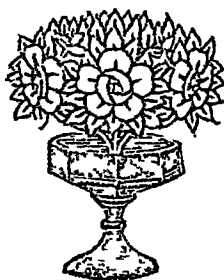
ज्योति अवसान

जैसे पूर्व लिखा जा चुका है कि सं० १९६४ में भिभाणा नगर में अन्तिम चातुर्मास्य करने के पश्चात् त्याग मूर्ति पूज्य गुरुदेव श्री ऋषिराज जी महाराज रोग ग्रस्त हो गये थे। अनेक प्रकार का उपचार करने पर भी रोग शान्ति न हुई। अपने अन्तिम काल के आठ दिन पूर्व ही आपने सावधानी करके आलोचना की और अन्य साधुओ को कहा कि मुझे अनशन करा दो। आपने अपने स्वर्गारोहण की भविष्यवाणी पूर्व ही कर दी थी। अन्तिम समय आपने आलोचना द्वारा भली प्रकार आत्म विशुद्धि की। और अन्ततः वह घडी आन पहुँची जब कि वह विशुद्ध आत्मा इस भौतिक शरीर को छोड़ने के लिए उद्यत हो गयी।

यह संसार परिवर्तनशील है। सदा सर्वदा बदलता रहने वाला है। इसमें जो जन्म लेता है उसका मरण अनिवार्य है। जन्म के पश्चात् मृत्यु और मृत्यु के पश्चात् जन्म, यह तो अनादि काल से होने वाली क्रिया है। सृष्टि के पश्चात् ध्वस और ध्वंस के पश्चात् सृष्टि यह दोनों ही क्रियाएँ निरन्तर तथा सर्वकालिक एव अन्योऽन्याश्रय हैं।

भगवद्गीता में भी लिखा है—

> जातस्य हि ध्रुवोर्मृत्युर्ध्रुव जन्म मृतस्य च।
> तस्माद परिहार्येऽर्थे न त्व शोचितुर्महसि॥

अर्थात्—जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु निश्चित है और जिसकी मृत्यु हुई है उसका जन्म भी अवश्यम्भावी है

इसलिए इस प्रकार की अटल क्रिया के विषय में चिन्ता करनी व्यर्थ है।

यह ऊपर लिखा जा चुका है कि महाराज श्री ने अपने स्वर्गवास से आठ दिन पूर्व ही भविष्यवाणी कर दी थी। पुण्यात्मा, महापुरुष भावी के स्वरूप को अपने दिव्य नेत्रों द्वारा प्रत्यक्ष देख लेते हैं। यह विषय तर्क द्वारा जान लेने का नहीं है। निरन्तर की तपस्या और सदाचारमय जीवन ही इसकी अनुभूति कर सकता है। आजकल के जड़वादी भले ही इस विषय में कुतर्क के तीर छोड़ें किन्तु इस तथ्य का ज्ञान तो उन्हें ही हो सकता है जो इस मार्ग पर अपने आप स्वयं धर्ममय जीवन व्यतीत करते हुए अग्रसर हुए हों।

अन्तिम दिन पुनः आलोचना करने के पश्चात् उसी दिन, उसी काल, उसी घड़ी, और उसी वेला में अर्थात्-पौष कृष्णा द्वितीया शनिश्चरवार दिन के चार बजे-विक्रम सम्वत् १९६४ को २४ घंटे का पूर्ण संथारा ले कर यू० पी० के जिला मुजफ्फर नगर के झिंझाणा नगर में आपने अपना भौतिक शरीर त्याग दिया और स्वर्ग लोक को प्रयाण किया।

साधारण जनता की दृष्टि में वे अभी स्थिर और प्रसन्न प्रतीत होते थे किन्तु मुनिवर तो भावी के प्रत्यक्ष जानने वाले थे। अपने तपोबल तथा धर्माचरण में प्रगाढ़ भक्ति तथा श्रद्धा होने से उन्हें अपने अन्त समय का बोध हो गया था। जो वीर हैं, निडर हैं, पर हित साधन में तल्लीन हैं और कल्याण मार्ग के पथिक हैं वे कब इस संसार से विदाई लेते समय रोते, कल्पते या विषाद करते हैं। वे तो संसार में त्याग और सेवा की पताका ले कर आते हैं और जब वह देखते है कि उनके जीवन का उद्देश्य इस धराधाम पर पूर्ण हो गया है, तब वे

विना किसी संकोच और व्याकुलता के इस रंग मंच या कर्तव्य क्षेत्र को छोड़ कर अपर लोक की ओर प्रयाण कर देते है।

साधारण जीवों और महात्माओं में यही तो अन्तर रहता है। साधारण मानव तो सुख दुःख, रागद्वेष, रोगशोक आदि सांसारिक विकारों तथा वासनाओं में आपाद-मस्तक लिप्त होते हुए भी इस वात की आकांक्षा रखते हैं कि उन का जीवन अधिकाधिक समय तक इस पाप, ताप, अधि व्याधि जन्य परिस्थिति में टिका रहे। इस के विपरीत मेधावी पुण्य-वान् या कृत सकल्पी-आत्मा यावज्जीवन पुण्य कर्तव्य मार्ग पर आरूढ़ रह कर विना किसी प्रकार की लोकैषणा के उप-युक्त समय पर इस संसार से शान्ति क साथ विदा हो जाते हैं। उन का शरीर त्याग तो ऐसा होता है—मानो किसी ने पुराने वस्त्र उतार कर नवीन वस्त्र धारण कर लिये हों—जैसे कि भगवद् गीता में लिखा है—

> वासासि जीर्णानि यथा विहाय
> नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
> तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
> न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

अर्थात—जैसे पुराने वस्त्र उतार कर मनुष्य नवीन वस्त्र धारण कर लेता है उसी प्रकार पुराने शरीर को छोड़ कर आत्मा नये शरीर को धारण करता है।[1]

हमारे चरित्र नायक त्यागमूर्ति पूज्य गुरुदेव श्री ऋषि-राज जी महाराज भी इसी श्रेणी के पुरुष रत्न थे। जीवन भर

१—किन्तु मोक्ष पद को प्राप्त करने वाले अर्थात् सिद्धावस्था में जाने वाले जीव नया शरीर धारण नहीं करते।

आपने सत्य को खोज ढूँढ़ कर उसे अपने जीवन में उतार दिखाया। त्याग, तपस्या, शास्त्रानुष्ठान और धार्मिक प्रवचनों में आपका सारा जीवन व्यतीत हुआ। जब सूक्ष्म मानस चक्षुओं से आपने यह अनुभव कर लिया कि ससार में उनके आने का उद्देश्य पूर्ण हो गया तो परम शान्ति के साथ इस नश्वर शरीर को पुण्यमय मांगलिक उच्चारण के साथ छोड़ने का भी निश्चय कर लिया और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि अन्त समय अरिहन्त मङ्गलं, सिद्ध मङ्गलं का उचारण करते हुए आपकी दिव्य आत्मा इस धरा धाम को छोड़कर स्वर्ग लोक की ओर प्रस्थान कर गई।

अन्त समय आपके मुख पर मुस्कान के चिह्न दिखाई देने लगे थे और उच्चारण बन्द होने पर भी होठ इस प्रकार प्रतीत होते थे मानो कोई पाठ पढ़ रहा हो। और ऐसा प्रतीत होता था मानो कोई यात्री अपने गन्तव्य स्थान पर पहुच रहा हो। किन्तु दूसरी ओर आपके वियोग से श्री संघ में परम व्याकुलता उत्पन्न हो गई। श्री संघ ने बड़े समारोह के साथ आपका अन्तिम संस्कार किया। झिंझाणा नगर की प्रायः सभी जनता ने तथा बाहर से आये हुए हजारों श्रावक और श्राविकाओं ने आपके शव के अन्तिम दर्शन किये। दर्शक लोग विस्मय इस बात पर करते थे कि आपका मस्तक लाली से चमक रहा था। मुख पर तेज विराजमान था। आपके शव पर बहुत से दुशाले पड़े, बड़ी सजधज के साथ विमान निर्माण किया गया। और कितने ही बाजो तथा भजन मण्डलियों के साथ बड़े समारोह पूर्वक श्मशान भूमिका में विमान को लाया गया। उस नगर के बाल, वृद्ध, वनिताये युवा आदि सभी आपको सदा के लिए विदा करने के निमित्त नगर से बाहर गये।

आपके स्वर्गवास की सूचना बड़ी शीघ्रता से दूरस्थ क्षेत्रों तक जा पहुंची और कितने ही बाहर के ग्रामों तथा नगरों में हजारों श्रावक और श्राविकायें उनके अन्तिम दर्शन करने के निमित्त आये। इस प्रकार जनता का बड़ा भारी समूह शव के साथ श्मशान भूमि में पहुंचा। अन्त में आपके शव को चन्दन निर्मित चिता में रखकर अग्नि संस्कार किया गया। जिन उत्कृष्ट भावों से आपने दीक्षा धारण की थी उन्हीं उत्कृष्ट भावों के साथ आपने पण्डित मरण प्राप्त किया।

जिस समय आपका स्वर्गवास हुआ उस समय आपके समीप आपके परम स्नेह के पात्र आपके सुयोग्य शिष्य पंडित श्री प्यारेलालजी महाराज और श्री श्यामलालजी महाराज तथा महासती श्री दुर्गाजी अपनी शिष्य मण्डली के साथ विराजमान थीं। इन्होंने महाराज श्री की हर प्रकार से अन्तिम समय तक पूरी पूरी सेवा की। और अपने कर्तव्य का पूर्ण रूपेण पालन किया जिस समय आपका स्वर्गारोहण हुआ उस समय आपकी आयु ५६ वर्ष की थी और दीक्षा का वह ३८ वां वर्ष था। इस काल में आपने अपना संयम धर्म बड़ी दृढता और नियम परायणता से पालन किया। आपके अनेक शिष्य हुये। आपका वर्तमान शिष्य वृन्द इस समय भी बड़ी उन्नत दशा में है।

गुरुदेव श्री ऋषिराज जी महाराज का पञ्च भौतिक शरीर आज इस धराधाम पर नहीं है। परन्तु जब तक उनका कीर्ति रूप शरीर जनता के मन मानस में स्मृति रूप से विद्यमान है तब तक कौन कह सकता है कि गुरुदेव संसार में नहीं हैं। पञ्च-भौतिक शरीर के अभाव में गुरुवर का कीर्ति रूप शरीर तो जनता के हृदय-पटल पर सदैव चित्रित ही रहेगा। "कीर्तिर्यस्य सः जीवति" कहकर नीतिकार इस सत्य का स्पष्ट

रूप से समर्थन करते हैं कि इस संसार में जिस जीव की कीर्ति है वही जीवित है और शेष तो कीर्ति हीन होने की अवस्था में जीवित होते हुये भी मृतकवत् होते हैं। सहस्रों मानव समुदाय जिन महापुरुषों को श्रद्धा भक्ति से स्मरण करें वे तो मानस चक्षुओं के सन्मुख सदैव विद्यमान हैं और इस प्रकार पूजनीय तथा वन्दनीय हैं उनको मरा हुआ कहना हमारी भूल है।

काल की बड़ी विचित्र गति है वह बड़ा प्रबल है। किसी समय भी उपेक्षा नहीं करता। काल सबसे बलवान है इसने पल में बड़े-बड़े राजा महाराजाओं का नाश कर दिया। इसने बड़े-बड़े बली शूरवीर, योद्धा, मल्ल तथा धुरन्धर विद्वानों की महानता को मर्दन करके उन्हें भूतल पर गिरा दिया। षट्खण्ड को साधन करने वाले, अपने हाथों से रिपुओं को यमलोक पहुँचाने वाले, तथा जगत में सदा स्थिर रहने का अथवा अपनी ऋद्धि व सम्पदाओं का गर्व करने वाले भी इस काल से पराजित हो गये। इस बली ने किसी को भी स्थिर न रहने दिया। यहाँ तक कि स्वर्ग के अधिपति, अतुल शक्ति के धारी इन्द्र महाराज तक को इसने नहीं छोड़ा।

इस काल ने त्रिभुवन पूज्य, सकल जीव हितैषी, धर्म धुरेन्द्र, क्षमा सागर, दयानिधि, त्रिजगततिलक श्री अर्हन्त भगवन्तों को भी इस जग में न रहने दिया और रिपुदल मर्दक तथा पुण्यपुञ्ज चक्रवर्ती भी इसने परलोक-रूपी पथ के पथिक बना दिये।

यह काल ऐसा सम्यक्दर्शी है कि भले ही कोई धर्मात्मा हो या पापाचारी, सदाचार का प्रचारक हो या दुराचार का, जिसका आयुकर्म समाप्त हो जाता है काल उसे परलोकवासी

बना देता है। माता, पिता, पुत्र, कलत्र और अखिल बन्धु देखते रह जाते हैं। साधु महात्माओं के गुरु और गुरु भाई तथा उनका शिष्य वर्ग तकता रह जाता है और इस भयंकर काल से अपने सहयोगी अथवा स्नेह के पात्र को कोई बचा नहीं सकता।

इसी नियम के अनुसार हमारे चरित्र नायक जो कि दया, त्याग, तपस्या और धर्माराधन की मूर्ति थे जैन समाज से सदा के लिये तिरोहित हो गये।

मृत्यु शोक

पिछले प्रकरण में लिखा जा चुका है कि कुछ काल तक रोग ग्रस्त रहने के पश्चात् पोष वदी दूज विक्रम स० १९६४ को शनिवार के दिन संथारा लेने और आलोचना करने के पश्चात् श्री ऋषिराज जी महाराज जिला मुजफ्फर नगर यू० पी के भिंझाणा नगर में इस नश्वर देह को त्याग कर स्वर्ग लोक सिधार गये। मुनि श्रेष्ठ का इस प्रकार आकस्मिक शरीर-त्याग देखकर उनके भक्तों को महान् आश्चर्य और शोक हुआ। आश्चर्य का वेग समाप्त होते ही उन का यह दारुण वियोग उन्हें अत्यन्त ही सन्तप्त करने लगा। कई लोग आतुर तथा कातर हो कर विलाप करने लगे, शोक के बादलों से अश्रुपात होने लगा। जो भी आता था वही अश्रुधारा की श्रद्धांजली भेंट करता था।

बालक, वृद्ध, नर, नारी, निर्धन-धनवान, साक्षर-निरक्षर सभी के मुख पर अपूर्व गहरा विषाद दिखाई देता था। उन का वियोग सब के हृदय में ऐसा चुभ रहा था मानो किसी अत्यन्त आत्मीय-जन का वियोग हो गया हो। गुरु श्री जी के वियोग से जैनों ने वास्तव में अपना महान् उपकारी एक अद्वितीय ऋषि खो दिया। चारो तीर्थों में शोक और चिन्ता विस्तृत हो गई। इस ससार में एक दुर्लभ तथा दुष्प्राप्य मुनि रत्न का अभाव हो गया। आपके इस अकाल मृत्यु से श्री संघ में चिन्ता तथा शोक का समुद्र लहराने लगा। समस्त नगर में आपके स्वर्गवास ने कोलाहल मचा दिया। ऐसा कौन पाषाण हृदय व्यक्ति होगा जो आपका स्वर्ग-

गमन समाचार सुन कर अश्रुपूर्ण नेत्र कर के न रोया हो? नगर में पूर्ण हड़ताल हो गई थी।

महात्माओं का समाज में आगमन पूर्व पुण्यों से ही होता है आगमन के पश्चात् उन का सयोग सुख समाप्त हो जाता है, तब वियोग जन्य पीड़ा का अनुभव होना स्वाभाविक ही होता है। जो विवेकी तथा ज्ञानवान् पुरुष होते हैं अर्थात् संसार की सारासार-स्थिति को जानने वाले होते हैं, वे शोक या दुःख के आवेग से किकर्तव्यमूढ़ या हतबुद्धि नही हो जाया करते, वे तो शान्त, और स्थिर हो कर कर्तव्य रत हो जाते हैं। एवं प्रकार उनके उपस्थित सुयोग्य शिष्यो ने यद्यपि अपने गुरुदेव के स्वर्ग सिधारने से अपने आप को अनाथ के रूप में अनुभव किया तथापि उन्होंने अपने आपको सभालते हुए किसी प्रकार की शास्त्र विरुद्ध अथवा संयम विरुद्ध क्रिया नहीं की और गुरु देव की मृत्यु को होनहार समझ कर शान्ति और धीरता से अपने मनकी स्थिरता को सुदृढ़ बनाए रखा।

आपके वियोग दुःख से पीड़ित भाइयों ने कई शोक सभायें की। जिनमें उनके अनेक गुणो का, उनके पाण्डित्य का, उनकी समाज सेवा का वर्णन बड़े भाव पूर्ण शब्दों में किया गया। कई वक्ताओ ने मृत्यु की कठोरता पर विचार प्रकट करते हुए कहा कि यह काल बड़ा निर्दयी है। यह मानव समाज के संरक्षकों, पथप्रदर्शकों और मानवता के सच्चे हितैषियों का भी अपहरण कर लेता है। इस की कठोरता की घटनायें सुन कर हृदय कॉप उठता है, शरीर में रोमाञ्च हो जाता है। यह निर्बल निराश्रय बालकों को अनाथ बनाने में किंचिन्मात्र सकोच नहीं करता। यह वृद्ध माता पिता के युवक बालकों को छीनने में और उन वृद्धों पर विपदाओं के पर्वत डालने में भी कुछ

भय नहीं करता, उनको एक प्रकार से जीवित ही मृतक बना देता है। युवती नारियो का सौभाग्य अपहरण करने में कुछ विलम्ब नही करता। उन के कोमल हृदय को खंड खंड करते हुए इसे कुछ भी दया नही आती। इस निर्दयी काल के चुंगल से बड़े बड़े योद्धा, राजा महाराजा, धनी, विद्वान, सैनिक, वैद्य, छोटे बडे कोई भी नहीं बच सकते। इस घातक ने ऋषियों, आचार्यों, तपस्वियो, अवतारो किसी को भी नहीं छोड़ा।

एक और वक्ता ने कहा कि क्या मृत्यु सबको परास्त कर लेती है? क्या वह सबको अपने आधीन और वश में कर लेती है? कदापि नहीं। जो महापुरुष अपना जीवन जन सेवा में लगाते हैं, जो मन वचन, कर्म से किसी का अनिष्ट नहीं करते। जो स्वयं धर्माराधन करते हैं और दूसरो से पालन कराते हैं। जो सत्यारूढ़ रह कर पूर्ण संयमी होते हैं, जिन्हे कोई भी सांसारिक प्रलोभन अपने कर्त्तव्य मार्ग से विचलित नही कर सकते, जिनको आधि व्याधियॉं निर्बल नही बना सकती। मृत्यु उन का कुछ नहीं बिगाड़ सकती। वे तो अपना कर्त्तव्य पूर्ण करके सदैव कहते हैं।

जिस मरने ते जग डरे मेरे मन आनन्द।
मरने ही ते पाइये पूर्ण परमानन्द॥

हमारे चरित्र नायक परमपूज्य श्री ऋषिराजजी महाराज भी ऐसे ही महापुरुषो में से थे। इसलिए वे मृत्यु से भयभीत न हुए थे और न ही हमें खेद करना चाहिये। क्योंकि उन्होने तो जिस ध्येय की प्राप्ति के लिए मनुष्य भव पाया था, उस उद्देश्य की पूर्ति करके वे इसअसार संसार को छोड़ कर देवलोक को प्रस्थान कर गये हैं।

"श्रद्धाञ्जलियाँ"

जिस समय पूज्य श्री ऋषिराज जी महाराज की आत्मा इस नश्वर काया को छोड कर स्वर्ग सिधार गई और इस प्रकार त्याग, तपस्या और धर्माराधन की वह मूर्त्ति जैन-समाज से सदा क लिए तिरोहित हो गई तो उन के शिष्यवर्ग तथा श्रावक वर्ग के दुःख का पार नहीं था। उनका विषाद उग्र से उग्रतर होता गया। महाराज श्री ने समाज को अपने दिव्य जीवन तथा दिव्य वचनामृत द्वारा दिव्यचक्षु का जो दान दिया था उस के लिए न केवल जैन-समाज अपितु समस्त जनता उनकी विशेष रूप से ऋणी थी। प्रायः सभी लोग मुक्त-कण्ठ से उन के गुणों को याद कर रहे थे। स्थान स्थान पर शोक सभाएँ हुईं। उनके व्यक्तित्व की अतीव सराहना की गई और कहा गया कि महा-राज श्री जी समाज में धुरन्धर तथा प्रखर पण्डित और विख्यात शुद्धाचारी और ब्रह्मचारी थे। आप ने अपना समग्र जीवन धर्म सेवा में लगाया, आपने दया-धर्म की महिमा को ऊँचा कर दिखाया, आप तो अपने निजी वैराग्य तथा त्याग की साक्षात् मूर्त्ति थे। समाज में जब कि भोग-विलास का बोल बाला था, तब आपने अपने पुनीत प्रवचनों से जनता को उस दूषित मार्ग से पीछे हटा कर अपने प्रभाव शाली पवित्र भाषणों द्वारा पवित्रता के पावन पथ पर स्वयं प्रयाण करके वही मार्ग सर्व साधारण को भी प्रदर्शित किया। उनके स्वर्ग सिधारने से जैनसमाज का मानो सूर्य अस्त हो गया। इस से आन्तर-सृष्टि में मानो अन्धकार छा गया। जहाँ सूर्य का प्रखर प्रकाश भी नहीं पहुंच सकता, ऐसे अज्ञान, तिमिराच्छादित हृदय-पटलों

को पूज्य गुरुदेव ने सच्चे सम्यक्त्व ज्ञान से प्रकाशित किया था। किसी जीव की विशेषता दीर्घ जीवन में नहीं होती अपितु महत्त्व तो आदर्श जीवन का होता है। महाराज जी का जीवन आदर्श जीवन था। जिस प्रकार यात्रा के जल, स्थल और आकाश तीन मार्ग हैं और उनमें आकाश मार्ग सर्वोत्कृष्ट है इसी प्रकार जीवन-यात्रा के भी तीन मार्ग हैं अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। इन तीनों में आध्यात्मिक मार्ग सर्वोत्तम है। आप श्री जी ने अपनी जीवन-यात्रा इसी मार्ग से पूर्ण की। इसीलिए वे पूज्य रहे और पूज्य रहेंगे।

अनेक शिष्यो और श्रावको ने अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ अपने अपने भाव और अपने अपने रंग के अनुसार भेंट कीं। उन सब का यहाँ पर उल्लेख करना तो कठिन है। किन्तु उन में से कुछ यहाँ पर उद्धृत की जाती हैं।

(१) "गुरुवर्य श्री ऋषिराज जी महाराज"

ऋषि सत्गुरु दीन दयाल हैं, गुण कहाँ तक वर्णे जावे॥
सतरह भेदी सयम पालै, बाईस परिशय तन में झालै।
दोष बयालीस आहार के टालैं, गुरु ज्ञानी ऋषि लाल हैं॥
तपस्या से कर्म जलावैं॥ऋषि॥

दया धर्म हृदय में धारी, तुम हो पाँच महा व्रत धारी।
मोह-ममता सब दूर निवारी, शिष्य जिनके प्यारे श्यामलाल है॥
महिमा से ज्ञान सुनावैं॥ऋषि॥

तुम हो स्वामी बाल ब्रह्मचारी, पाँचो इन्द्रिय तुम ने मारी।
शील रतन हैं जग में भारी, छः काया के रिछ पाल हैं॥
भगवन्त भजन गुण गावैं॥ऋषि॥

क्रोध-मान-माया जिन मारी, कीनी मुक्ति पुरी की तैयारी।
धन्य गुरु तुम वारम्बारी, तुम्हारा सेवक "किशोरी" लाल है ॥
चरणों में शीश नवावें ॥ऋषि॥

(२) "श्री स्वामी जी ऋषिराज"

श्री स्वामी जी ऋषिराज, धरम की राह बताने वाले ॥टेक॥
हैं पंच महा व्रतधारी, जिन करी तपस्या भारी।
इन मोह ममता सब टारी, हरदम दया के पालन वाले ॥श्री॥
यह करते ज्ञान उपदेश, इनके झूठ नहीं लवलेश।
यह फिरते देश-विदेश, सत्गुर ज्ञान सुनाने वाले ॥श्रीस्वामी॥
हुए इस दुनिया से दूर, वहु कर्म किए चकचूर।
नहीं रही कर्मों की धूर, हैं मुक्ति में जाने वाले ॥श्रीस्वामी०
करो "जुगली" का उद्धार, यह सागर है संसार।
तुमने बहुत किये हैं पार, चरणों में ध्यान लगाने वाले।
श्री स्वामीजी ऋषिराज धर्म की राह बताने वाले ॥

(३)

(निम्न लिखित गुणगान एल्लम के श्रावकों ने सं० १९४० के चातुर्मास्य में महाराज श्री का किया था)

म्हारे लेखराज मन भाया, म्हारे लेखराज मन भाया।
मैं तो हाथ जोड़ करूं वन्दना, चरणों में शीस नमाया ॥टेक॥
छोड़ा घर बार, ठाया संजम ही का भार,
पंडित पूरे खिमावन्त।
बाल ब्रह्मचारी सन्त, ये तो ऐसे मुनिराज,
दर्शन करने जोग जी ॥
भाषा बोलते हैं निर्दोष, पहले मारे चारों रोष,
किया अठारां का धमसान।

गुण सत्ताइसों की खान, धन्य याही कोख को
जिन रत्न चिन्तामणि जाया जी,
म्हारे लेखराज मन भाया जी ॥१॥

आहार करते हैं निर्दोष, टाले वे ब्यालीस दोष।
अन्दर बसता है सन्तोष, सहे बाईसों की चोट।
जैन धर्म को दिपा रहे जी ॥

पाँच महाव्रत पालते है शुद्ध,
करे आठो सेती युद्ध।
भाषे केवलियों की वाणी,
जिन श्रावक धर्म बताया जी ॥
म्हारे लेखराज मन भाया जी ॥२॥

छोड़ा सातों का कुसंग, पाँचो वश में करे भुजङ्ग।
मिल गई तीनो की एक चाल, छोड़ा मोह जञ्जाल ॥
नोवाड़ ब्रह्मचर्य पालते जी ॥

पकड़ी तपस्या की शमसेर, मेंटा चारो गति का फेर।
तिरण तारण जगदेव, जिन नर भव सुफल कमायाजी।
म्हारे लेखराज मन भाया जी ॥३॥

तीर्थ भादवा आठो माहि, कल्प कहा सुनना सुखदाई।
ठाकरलाल श्रावग पूरा, जंगी उठा मेहरचन्द सूरा।
वे करने अठाई संग दोनो बैठ गयेजी।
उठे सभी श्रावग जंगी, तपस्या कर बैठे पचरंगी।
बीता सुख शान्ती से काल, उन्नीसो चालीस का था साल।
चंचल कहता अलम वाला, भला उदै दिन आया जी।
म्हारे लेखराज मन भाया जी ॥४॥

महाराज श्री का स्वभाव

श्री ऋषिराज जी महाराज के सद्गुण अन्य कई स्थलों पर इस जीवन चरित्र में वर्णन हो चुके हैं। आप वास्तव में सद्गुणों के भण्डार और सद्वृत्तियों के निधि थे। आपकी सौम्य आकृति, नम्रता, नियम परता, प्रभुभक्ति और उदारता प्रत्येक व्यक्ति के मन को मुग्ध करती थी। दीर्घदर्शिता और समयानुसार वर्ताव यह गुण आप में अनुपम थे। आप क्षमा के समुद्र थे। निर्वैरता आपके नस-नस में भरी हुई थी। आपके संयम, अहिंसा तथा शान्ति का महात्म्य कहने में ही नहीं आ सकता। आपकी भद्रता और मृदुता की सभी सराहना करते थे। सहिष्णुता तथा सहनशक्ति उतनी प्रबल थी कि किसी समय भी धैर्य को न छोड़ते थे।

आपके प्रवचन में एक ऐसी अलौकिक शक्ति थी कि—जो प्रत्येक जन को हित-शिक्षा प्रदान करती थी। आपके मधुर वाक्य स्वल्पाक्षर और गम्भीरार्थ होते थे। आपकी प्रत्येक वार्ता शिक्षाप्रद थी। परम शान्ति मुद्रा, स्व और पर के हितैषी, सत्योपदेष्टा, सप्तविंशति गुणालंकृत, पवित्रात्मा और अखिल प्राणियों के हितान्वेषी थे।

आपने अपने पवित्र जीवन में गुरुभक्ति का अनुपम परिचय दिया जो कि प्रत्येक प्राणी के लिये उपादेय है। आपकी शान्ति की असीम महिमा अभी तक उन सब लोगों के हृदयों में स्थित है। आपकी शान्त मुद्रा उनके मस्तिष्क में आज तक विद्यमान है। जिन-जिन महानुभावों ने आपके मुखारविंद से

एक वचन भी सुन लिया वह आपकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा किये बिना कदापि नहीं रह सके। शास्त्रीय ज्ञान में आपके सदृश विरले ही मुनिरत्न उपलब्ध होते हैं। आप जहाँ एक मधुर भाषी और प्रभावशाली वक्ता थे, वहाँ एक प्रसिद्ध लेखक भी थे। आपकी कविता भी बड़ी मनोहर और सारगर्भित होती थी। आपने कई ग्रन्थों की रचना की है जिसका विस्तार अन्यत्र दिया जा चुका है।

जिन पुरुषों को आपकी शान्तिरूप मुद्रा के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है उनके हृदय में आप सदैव काल पूज्य भाव से विराजमान रहे हैं। आपका स्वभाव अतीव सुकोमल तथा प्रशंसनीय था। प्रकृति के आप महाविनयी तथा उदार चित्त थे। नम्रता धारण करनी, शान्ति रखना, विचारयुक्त तथा धैर्यपूर्वक बोलना और किसी के अविनय करने पर भी सहन-शील रहना आपका सहज स्वभाव था।

आप सत्यवादी, अहिंसक, ब्रह्मचारी, अपरिग्रही, दयालु, परम धर्मात्मा और सब हितैषी थे। समता, शान्ति तथा क्षमा में अद्वितीय, आप बड़े भाग्यशाली, दीर्घदर्शी और अतीव वैराग्यवान् मुनि थे। आपका धैर्य तथा धीमता बड़े ही प्रशंस-नीय थे। निरन्तर के धर्माचरण और राग द्वेषादि आत्मिक शत्रुओं को वशीभूत करने के कारण आपकी आत्मा स्फटिक मणि की नाईं निर्मल हो गई थी। आपने अध्यात्म योग द्वारा अपनी आत्मा को अत्यन्त विमल तथा पवित्र बनाया था।

परम सम्माननीय तथा श्रद्धास्पद, योग्य, सरल तथा शास्त्र विद्या विशारद, सिंह तुल्य अत्यन्त निर्भय, शूर, परम तेजस्वी, ओजस्वी, यशस्वी, पूर्ण सदाचारी, अतीव देश हितकारी, महत

परोपकारी, कर्मवीर, नि.सीम, नम्र, आदर्श बाल ब्रह्मचारी थे। आपने आजीवन परम पवित्र, कठोर, अखण्ड तथा दिव्य ब्रह्मचर्य धारण किया हुआ था।

किंवहुना—आप समस्त गुणो से मण्डित और समस्त अवगुणों से रहित वास्तविक अर्थों में आप परम सन्त थे।

आपके स्वभाव की एक विशेपता थी। वह यह कि जैसे आपके गुरु महाराज केवल अपनी शिष्य मण्डली की सख्या वढाने के लिए किसी को दीक्षा नहीं देते थे एव प्रकार श्री ऋपिराज जी महाराज भी प्रत्येक विज्ञप्ति करने वाले को श्रामण्य धर्म का पथिक नही बनाते थे। इस सम्बन्ध में एक-दो घटनाये लिखना अनुचित न होगा। एक वार जव श्री ऋपिराज जी महाराज आगरा नगर में विराजमान थे तो परासोली के ला० चन्द्रभानजी तथा उनकी धर्मपत्नी ने आपके श्री चरणों में उपस्थित होकर दीक्षा दिये जाने की विनती की और कहा, कि—उन्हें साधु तथा आर्यिका बनाया जाये। महाराज श्री ने अपने आत्मानुभव से उनकी प्रार्थना पर विचार करके उनको शिक्षा दी 'कि तुम्हारा अभी दीक्षा का अवसर नहीं है। अत गृहस्थ-धर्म का पालन करते हुए ही सामायिक, सम्वर, पौपध आदि धर्म ध्यान करें तो अच्छा रहेगा। इसमें ही तुम्हारा कल्याण है। साधुवृत्ति का निभाना कठिन है।' वे लोग बड़े अच्छे घराने से सम्बन्धित थे। महाराज श्री का सत्य सकेत पाकर वे अपने घर को लौट गये और नियम पूर्वक गृहस्थ धर्म का पालन करने लगे। उसके पश्चात् ला० चन्द्रभान जी के घर में ला० धर्मदासजी, गिरीलालजी, मोतीरामजी नामक तीन पुत्र रत्न उत्पन्न हुए और उन तीनो का परिवार अब तक स्थित है। ला० चन्द्रभानजी ने अपने जीवन पर्यन्त श्रावक धर्म का पूर्ण

पालन किया और इन के तीनों पुत्र भी ऐसे ही धर्म परायण हुए हैं।

इसी प्रकार ला० निरंजनलाल जी जो कि करनाल के एक धनाढ्य परिवार के नवयुवक थे, अपनी अठारह साल की आयु में महाराज श्री के पास आये और दीक्षा दिये जाने की प्रार्थना की और इस विषय में अतीव आग्रह किया। महाराज श्री ने पूर्वलिखित दम्पत्ति के सदृश इस नवयुवक की परिस्थिति पर भी अपने आत्मिक बल द्वारा गम्भीर चिन्तन करने के बाद ला० निरंजनलालजी को सत्य सम्मति दी कि 'आप गृहस्थ धर्म का पालन करके अपना आत्मिक कल्याण अधिक अच्छी तरह कर सकते हैं। साधु जीवन का पथ तुम्हारे लिए दुरारोह है। अस्तु महाराज श्री के विचारानुसार लालाजी ने गृहस्थ धर्म का ही पालन किया। कालान्तर में उनके चार पुत्र हुये। उनमें से एक रायबहादुर दयाचन्दजी हैं जो कि रेलवे विभाग में इञ्जीनियर हैं। दूसरे ला० दीपचन्दजी देहरादून में एक प्रसिद्ध रईस हैं। तीसरे ला० विशालचन्दजी सहारनपुर में मजिस्ट्रेट हैं। चौथे ला० विनयचन्दजी हैं और इन सबका आगे भी पूरा परिवार प्रफुल्लि है। यह सारा विस्तार ला० निरंजनलालजी ने स्वयं बताया है। जो कि बड़े ही धार्मिक विचारों के भव्य मनुष्य हैं।

यदि कोई साधारण प्रकृति का साधु होता तो वह ऐसे अच्छे घराने के इन जीवों को तत्काल ही संयम मार्ग का पथिक बना देता किन्तु श्री ऋषिराजजी महाराज अपनी अन्तर आत्मा के विरुद्ध कोई भी कार्य्य नहीं करते थे और इसी से हम कह सकते हैं कि वे स्व तथा पर के सच्चे हितकारी थे। वह कभी भावुकता से काम नहीं लेते थे, अपितु

प्रत्येक कार्य को विचार पूर्वक पूर्ण गम्भीरता तथा दूरदर्शिता से सम्पन्न करते थे और भगवान् महावीर स्वामी के उस विख्यात प्रवचन का पूरा-पूरा पालन करते थे कि जिसमें लिखा है। कि—

जयं चरे जयं चिट्ठे, जय मासे जयं सए।
जय भुंजंतो भासतो पाव कम्म न बंधई॥
(दश०—४—८)

अर्थात्—सावधानी से चलना, सावधानी से ठहरना, सावधानी मे बैठना और सावधानी से सोना चाहिये जिससे पाप कर्मों का वन्धन न हो एवं प्रकार सावधानी से खाते हुये और बोलते हुये भी पाप कर्मों का वन्ध नहीं होता अर्थात्—अपनी दिन-चर्या को अतीव सावधानी पूर्वक निभाना उचित है।

आपके स्वभाव में सरलता, सत्यता और उदारता विशेष रूप से विद्यमान थी और ऐसे ही अनेक दूसरे सद्गुणों से आप विभूषित थे जिनके कारण आपकी प्रकृति अतीव शुद्ध और विमल थी।

अस्तु, हमारे चरित्र नायक चारित्र चूडामणी गुरुदेव परम पडित श्री स्वामी ऋषिराजजी महाराज जिस किसी छोटे से छोटे क्षेत्र में भी पधारते थे तो वहाँ की श्रद्धालु अजैन जनता भी महाराज श्री का स्वागत सत्कार बडे उत्साह के साथ किया करती थीं। इसी प्रकार एक समय आप "बडसत" जि० करनाल में पधारे थे। तब वहाँ के प्रसिद्ध सनातनी पंडित श्रीमान् नाथूरामजी शर्मा ने अपनी तथा वहाँ की जनता की ओर से स्वागत करते हुए बहुत सी कविताएँ सुनाई थीं। जिनमें आपके बहुत से उत्तम-उत्तम गुणों का एव सुन्दर स्वभाव का कुछ सक्षिप्त सा परिचय मिलता है। अतः उन सब कविताओं को यहाँ न देकर उनमें से केवल दो तीन कविताएँ दिग्दर्शन मात्र यहाँ पर

दे देना उचित है। इनमें दो पद्य शिखरणी छन्द के भी हैं। देखिये—

हमारी वस्ती में वहुत जन सोते करम से,
तुम्हारे आने से वहुत जन जागे धरम से।
घने जो पापी में वचन सुन थारे भरम से,
हटे आपो सारे नियम व्रत धारे शरम से ॥१॥

हुई शिक्षा जारी शुभ दिन तुम्हारी रस भरी,
लगी सब ने प्यारी गुण समुद्र सारी शिर धरी।
भली मीठी वाणी सभइ मन मानी सर सरी,
न माने जो मानी मनसि पछतानी हर घरी ॥२॥

ऐसा न देखा तप ज्ञान धारी, जैसे सुने ये ऋषिराज भारी।
आश्रित्ययं नैव पतति शोके, विराजते सो जनवास लोके ॥३॥

आत्मिक बल के कुछ चमत्कार

श्री ऋषिराजजी महाराज की कठोर तपस्या और धर्म पालन के फल स्वरूप उनका आत्मिक बल बहुत उच्च हो गया था। उसके कई चमत्कार हुये जिनमें से केवल दो तीन का वर्णन यहाँ पर किया जाता है। आज का आत्मिक बल विहीन ससार इन मर्मो को नही समझ सकता। इन रहस्यो को वे ही लोग समझ सकते है जिनको स्वयं आत्मिक ज्ञान है दूसरे तो श्रद्धा विहीन लोग थोथी तर्क वितर्क में ही अपना बहुमूल्य समय नष्ट कर देते हैं।

(१) संवत १६४१ की हिलवाड़ी की घटना एक और प्रकरण में लिखी जा चुकी है कि जब एक व्यक्ति को अत्यन्त शारीरिक कष्ट था और महाराज के मुखारविद से मंगली और शान्ति पाठ सुनकर उसका दुःख निवृत्त हो गया था।

(२) उसी हिलवाड़ी की एक और घटना है। एक युवक जिसका नाम तारीफसिंह था और जो हिलवाड़ी का रहने वाला था चक्षु हीन था। किन्तु उसे महाराज श्री के चरणों में बड़ी श्रद्धा थी। बडे प्रेम से वह अपने मन के अन्दर भक्ति भाव रखता था। कुछ काल तक वह महाराज श्री की आज्ञा-नुसार धर्म ध्यान करता रहा और उसका जीव इस भौतिक ससार को छोड़ गया। उसके पिता को बडा खेद हुआ। वह दिन रात रोता था। जहाँ उस युवक का शव जलाया गया था वहाँ भी जाकर रोता था। एक दिन वहाँ से आवाज आई कि आप क्यो रोते हैं और क्यों मेरा शोक करते हैं। मैं तो महा-

राज श्री ऋषिराजजी की कृपा से देवता बन गया हूँ, मुझे देव गति प्राप्त हो गई। आप भी गुरू महाराज के चरणों में जाकर बैठिये ताकि आपका भी कल्याण हो।

(३) संवत् १९६३ में आपका चातुर्मास्य बड़सत जिला करनाल में था। आप एक कमरे में बैठे तपस्या कर रहे थे और श्रावक और शिष्य वर्ग बाहर धर्म क्रियायें कर रहे थे। एकाएक कमरे में सौ बिजली के लैम्पो के समान प्रकाश हुआ। बाहर बैठे आदमियो की आँखे चुँधिया गईं। फिर एक मधुरवाणी ने कहा कि आपकी आयु अब केवल छः मास है। बाहर वाले सब लोग भयभीत होकर अन्दर गये और महाराज श्री से इस कौतुक का वृत्तान्त पूछा तो महाराज श्री ने उपेक्षा भाव से कहा कि तुम इन बातो का ध्यान न करो। महाराज श्री इस घटना के ठीक छः मास के पश्चात् स्वर्ग सिधार गये। इसी प्रकार महाराज श्री की आत्मि-शक्ति के हजारों अद्भुत चमत्कार तत्कालीन जनता ने स्वयं प्रत्यक्ष देखे हैं। जिनकी कि आज कल के आत्मिक शक्ति विहीन मनुष्य कुछ कल्पना भी नहीं कर सकते।

गुरु शिष्य परम्परा

१ भगवान महावीर स्वामी
२ श्री सुधर्मा स्वामीजी
३ श्री जम्बू स्वामीजी
४ श्री प्रभवा स्वामीजी
५ श्री शयम्भव स्वामीजी
६ श्री शयोभद्रजी स्वामी
७ श्री सम्भूत विजयजी स्वामी
८ श्री भद्रबाहुजी स्वामी
९ श्री स्थूल भद्रजी स्वामी
१० श्री महागिरी स्वामी
११ श्री सुहस्ती सूरि
१२ श्री सुस्थित सूरि
१३ श्री इन्द्र दिन्न सूरि
१४ श्री आर्य दिन्न सूरि
१५ श्री सिह गिरि सूरि
१६ श्री वयर स्वामी
१७ श्री वज्रसेन स्वामी
१८ श्री आर्य रोह स्वामी
१९ श्री पुष्प गिरि स्वामी
२० श्री फल्गु मित्र स्वामी
२१ श्री धर सूरि स्वामी
२२ श्री शिव भूति सूरि
२३ श्री आर्य भद्र सूरि

२४ श्री आर्य नक्षत्रजी सूरि
२५ श्री नागेन्द्रजी सूरि
२६ श्री आर्य रक्षितजी सूरि
२७ श्री देवर्द्धि गणीक्षमा श्रमणजी
२८ श्री चन्द्रजी स्वामी
२९ श्री समन्त भद्रजी स्वामी
३० श्री धर्म घोपजी सूरि
३१ श्री जयदेवजी सूरि
३२ श्री विक्रमसिंहजी सूरि
३३ श्री देवानन्दजी सूरि
३४ श्री विद्या प्रभजी स्वामी
३५ श्री नरसिंहजी सूरि
३६ श्री समुद्रजी सूरि
३७ श्री परमानन्दजी सूरि
३८ श्री विबुधजी सूरि
३९ श्री जयानन्दजी सूरि
४० श्री उचितजी सूरि
४१ श्री प्रौढ़जी सूरि
४२ श्री विमलचन्द्रजी सूरि
४३ श्री नागदत्तजी स्वामी
४४ श्री धर्म घोपजी सूरि
४५ श्री रत्नसिंहजी सूरि
४६ श्री देवेन्द्रजी सूरि
४७ श्री रत्न प्रभजी सूरि
४८ श्री अमर प्रभजी सूरि
४९ श्री ज्ञानचन्द्रजी सूरि

५० श्री मुनि शेखरजी सूरि
५१ श्री सागरचन्द्रजी सूरि
५२ श्री मलयचन्द्रजी सूरि
५३ श्री विजयचन्द्रजी सूरि
५४ श्री यशवन्तसिंहजी सूरि
५५ श्री कल्याणजी सूरि
५६ श्री शिवचन्द्रजी सूरि
५७ श्री हीरागरजी स्वामी
५८ श्री रूपचन्द्रजी स्वामी
५९ श्री दीपागरजी स्वामी
६० श्री वयरागरजी स्वामी
६१ श्री वस्तुपालजी स्वामी
६२ श्री कल्याणदासजी स्वामी
६३ श्री भैंरवदासजी स्वामी
६४ श्री नेमीचन्द्रजी स्वामी
६५ श्री आसकरणजी स्वामी
६६ श्री वर्धमानजी स्वामी
६७ श्री सदारंगजी स्वामी
६८ पूज्य श्री मनोहरदासजी स्वामी
६९ पूज्य श्री भागचन्द्रजी महाराज
७० पूज्य श्री सीतारामजी महाराज
७१ पूज्य श्री शिवरामदासजी महाराज
७२ तपस्वी श्री हरजीमलजी महाराज
७३ पंडित श्री रत्नचन्द्रजी महाराज
७४ पंडित श्री कवरसैनजी महाराज
७५ पंडित श्री ऋषिराजजी महाराज
७६ गणी श्री श्यामलालजी महाराज
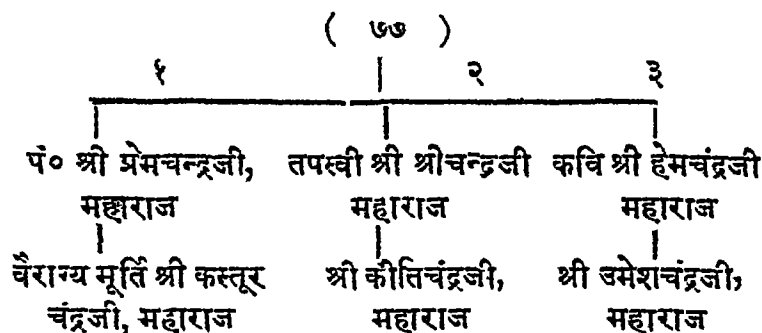
इस गुरु शिष्य परम्परा का संक्षिप्त जीवन वृत्तान्त भी आगे दिया जावेगा। यहाँ पर नाम मात्र देकर केवल इतना ही लिखा जाता है कि—हमारे चरित्र नायक परम पूज्य-गुरुदेव चारित्र चूड़ामणी श्री श्री १००८ श्री ऋषिराजजी महाराज के वैसे तो बहुत से शिष्य हुए थे किंतु उनमें प्रधान दो ही हुए हैं। एक पंडित श्री प्यारेलालजी महाराज इनका परिचय पीछे आ चुका है। दूसरे गणी श्री श्यामलालजी महाराज हैं। इनमें बहुत-से सुन्दर सुन्दरगुण विद्यमान हैं। आप शान्तमूर्ति सरल स्वामी और सच्चे गुरु भक्त हैं अस्तु—आपके तीन शिष्य और तीन प्रशिष्य भी आप ही जैसे सौम्य मूर्ति एवं गुणी हैं। और अपनी आत्मा का कल्याण करने के साथ साथ जनता को भी सत्य धर्म के उपदेश देकर कल्याण के मार्ग पर चला रहे हैं।

गुरुजनों का संक्षिप्त वृतान्त

(१) श्री महावीर स्वामी—जिनका विस्तृत जीवन चरित्र लेखक द्वारा उर्दू में लिखा जा चुका है, जिज्ञासु सज्जनों के लिए वह लेखक द्वारा प्रकाशित भी हो चुका है।

प्रिय पाठक उसको पढ़ कर पूर्ण लाभ उठा सकते हैं। भगवान् महावीर जैन धर्म में चौबीसवें तीर्थंकर माने गए हैं। आपसे पहिले तेईसवे तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथजी की परम्परा चल रही थी जो कि पीछे से आपके ही शासन में समाविष्ट हो गई थी। अस्तु—

भगवान् महावीर के सुयोग्य शिष्यों में श्री इन्द्र भूति, श्री सुधर्मा स्वामी आदि ११ गणधरो सहित १४ हजार साधु थे, एव श्री चन्दन वाला प्रमुख ३६ हजार साध्वी थीं। और बारा व्रतों को पूर्ण रूप से पालन करने वाले लाखों श्रावक श्राविकाओ का परिवार हुआ है। उन सब का यहाँ पर पूरा वर्णन करना तो बहुत कठिन है, इसलिए आपके पश्चात् जो जो पूज्य साधुजी महाराज हमारे चरित्र नायक की परम्परा में हो चुके हैं उन्हीं का नाम निर्देश किया जाता है।

(२) श्री सुधर्मा स्वामी—आप भगवान् महावीर के पाँचवे गणधर थे आपका जन्म मगध देश के कोलाक ग्रामवर्ती ब्राह्मण कुल भूषण पंडित धवलसेन की धर्म पत्नी श्रीमती भद्रादेवी की कुक्षी से हुआ था।

आप ५० वर्ष गृहस्थ में रहे, ३० वर्ष भगवान् महावीर की सेवा में साधु वृत्ति का पालन किया। १२ वर्ष तक आचार्य पद

को सुशोभित किया और ८ वर्ष केवल ज्ञानी रहकर जैन धर्म दिपाया। अतः भगवान् महावीर से २० वर्ष बाद मोक्ष पद प्राप्त किया।

(३) श्री जम्बू स्वामी—आप भी मगध देश की प्रसिद्ध राजधानी राजगृही नामक नगरी के ख्यातिप्राप्त धन कुबेर सेठ श्री ऋषदभत्त की धर्म पत्नी श्रीमती धारणी देवी के इकलौते पुत्र थे। आपने बड़े भारी वैराग्य से युवा अवस्था में ही अपनी नव विवाहिता एवं अनुराग रक्ताआठ स्त्रियों को, अपने माता, पिता तथा सासु सुसरों को, और प्रभवा आदि ५०० चोरो को सच्चा प्रतिबोध देकर करीब पाँच अरब की नकद सम्पत्ति का परित्याग करके ५२७ सज्जनों के साथ श्री सुधर्मा स्वामी के चरणों में साधु दीक्षा धारण की थी। आपने भी आचार्य पद को सुशोभित करके एव ४४ वर्ष तक केवल ज्ञानी रहकर भगवान् महावीर से ६४ वर्ष बाद मुक्ति प्राप्त की थी।

(४) श्री प्रभवा स्वामी—आप मगध देश के एक बहुत बड़े डाकू थे। किन्तु आपने जम्बूजी के प्रतिबोध से उनके साथ ही साधु दीक्षा धारण की थी और इतने अच्छे सन्त हुए कि श्री जम्बू स्वामी के पश्चात् आपको ही आचार्य का पद प्राप्त हुआ था। जिस समय आपने दीक्षा ली थी उस समय आपकी आयु ३० वर्ष के करीब थी और श्री महावीर भगवान् के ७५ वर्ष बाद कुल १०५ वर्ष की आयु पूर्ण करके स्वर्ग प्राप्त किया था। इसके बाद सभी आचार्यों ने स्वर्ग प्राप्त किया।

(५) श्री शयम्भव स्वामी—आप भी राज-गृही के एक प्रसिद्ध क्षत्री थे। आपने २८ वर्ष की युवा अवस्था में ही अपनी सगर्भा स्त्री को छोड़कर साधु दीक्षा धारण की थी।

आपके बाद जिस पुत्र ने जन्म लिया था उसने भी अपनी बाल अवस्था में ही आपके पास दीक्षा ले ली थी। उसका नाम "मनक मुनि" हुआ है। उनको आपने अल्पायु समझ कर उनके कल्याणार्थ पूर्वो से उद्धृत करके श्री दशवें कालिक सूत्र की रचना की थी जो आज भी जैन साधुओं का परम माननीय एव प्रथम पाठ्य ग्रन्थ है। अस्तु—

आपने अति उत्कृष्ट संयम का पालन करके भगवान् महावीर से ९८ वर्ष बाद स्वर्ग प्राप्त किया।

(६) श्री यशोभद्र स्वामी—आपने २२ वर्ष की आयु में दीक्षा ली थी। और ८६ वर्ष की आयु प्राप्त करके भगवान् महावीर से १४८ वर्ष बाद स्वर्ग प्राप्त किया।

(७) श्री सम्भूत विजयजी—आपने ४२ वर्ष की आयु में दीक्षा ली थी, और ९० वर्ष की आयु में भगवान् महावीर से १५६ वर्ष बाद स्वर्ग प्राप्त किया।

(८) श्री भद्रबाहुजी—आप जाति के ब्राह्मण थे। अपने समय के बहुत बड़े दिग्गज विद्वान थे। आपके पिता श्री का नाम वराह था और आपका एक भाई भी था जिसका नाम मिहिर था, बाद में जो वराह मिहिर के नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

मिहिर के जन्मते ही पिताने जन्म लग्न से बालक को भ्रान्ति से १० वर्ष जैसी अल्पायु की शका करके किसी दूसरे को दे दिया था किन्तु बाद में मिहिर की आयु पूरी १०० सौ वर्ष की हुई है और ज्योतिष का धुरन्धर विद्वान् हुआ है इसने एक समय लंका निवासी परम विदुषी रुचिरा नामक कुवरी को शास्त्रार्थ में जीत कर उससे शादी की थी। बाद में भद्रबाहु और मिहिर दोनों भाई अपने पांडित्य के गर्व में दिग्विजय को निकले।

सर्वत्र बड़े बड़े विद्वानो को जीतते हुए आखिर में जैनाचार्य श्री संभूति विजय जी से पराजय स्वीकार की। और दोनों भाइयों ने उन्हीं के चरणों में साधु दीक्षा धारण की।

दीक्षा के समय श्री भद्रबाहुजी की आयु ४६ वर्ष की थी। आपका मिहिर भाई सयम की कठिनाइयों से घबरा गया और आप से आचार्य पद के लिए झूठा झगड़ा करके अलग हो गया पश्चात् संजम से ही पतित हो गया। और पंडिताई का कार्य करने लगा। वराह मिहिर संहिता नामक ज्योतिष का प्रसिद्ध ग्रन्थ आपने ही बनाया था। श्री भद्रबाहुजी जैन शास्त्रों के उद्भट विद्वान् थे। आपकी इस विद्वत्ता का प्रमाण आपकी बनाई हुई बहुत सी नियुंक्तियाँ एवं कल्पसूत्र आदि दे रहे हैं। मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त भी आपके ही शिष्य थे। आपका श्रुत ज्ञान बहुत निर्मल था। तथा आप चौदह पूर्वों का पूर्ण ज्ञान रखते थे अतः आप ही आखिरी चौदह पूर्व धारी हुए हैं। आपने आज से २३०० वर्ष पहिले मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्त के पक्खी पोषध में देखे हुए १६ सुपनो का फला देश बता कर जो जो भविष्यवाणी की थी वह पूर्णतया सत्य हो रही है।

इस प्रकार श्री भद्रबाहुजी ने सम्पूर्ण भारत में जैन धर्म का प्रचार करके भगवान महावीर से १७० वर्ष बाद स्वर्ग प्राप्त किया।

(६) श्री स्थूल भद्रजी स्वामी—आपके पिता श्री का नाम सकडाल था, जो राजा नन्द के प्रधान मंत्री थे और आपका एक भाई था जिसका नाम श्रीयक था तथा आपकी सात बहने भी थीं।

इस प्रकार आपका गृहस्थ सम्बन्धी परिवार पूरा था और संसार के भोगों में इतने तल्लीन थे कि कुछ पूछिये मत।

एक समय राजा नन्द को एक ब्राह्मण के षड्यंन्त्र से आपके पिता पर राजद्रोह की आशंका हो गई थी जिससे आपके पिता ने अपने समस्त परिवार को बचाने के लिए अपने छोटे पुत्र को आज्ञा दी कि जिस समय मैं राज्य परिषद् में जाकर उपस्थित हूँ उसी समय तुम खड्ग से मेरी गर्दन उतार देना। इस प्रकार मेरा अन्य सब परिवार बच जावेगा। अतः पुत्र ने पिता की आज्ञा का पालन किया तो राजा ने प्रसन्न होकर पुत्र को प्रधान मन्त्री का पद प्रदान करना चाहा किन्तु उस समय स्थूलभद्र जी एक वेश्या के यहाँ रहते थे। छोटे भाई ने मन्त्री पद नहीं लिया, तब बडे भाई श्री स्थूलभद्र जी को वेश्या के घर से बुला कर राजा ने एव श्री स्थूलभद्र जी के समस्त परिवार ने मन्त्री पद स्वीकार करने का अत्यन्त आग्रह किया किन्तु अपने भाई द्वारा पिता श्री के स्वर्गवास की समस्त घटना को श्रवण करके संसार से विरक्ति धारण की और समस्त परिवार के साथ श्री भद्रबाहु जी के चरणों में साधु दीक्षा ली। अस्तु—

आपने अपनी पूर्व परिचित कोश्या नामक वेश्या के मकान पर एक पूर्व प्रदत्त वचन को पूर्ण करने के लिए गुरु आज्ञा से चातुर्मास किया था और उस वेश्या को प्रतिबोध देकर, शील धर्म में दृढ करके एक पवित्र श्राविका बना दिया था।

आपकी समस्त कथा बहुत लम्बी है किन्तु यहाँ पर इतना ही पर्याप्त होगा कि गुरुदेव आपके संयम से बहुत ही अधिक प्रसन्न हुए और आपके आने पर गुरुदेव ने स्वयं खड़े होकर बहुत ही उत्कृष्ट शब्दों में आपकी भूरि-भूरि प्रशसा की। इस प्रशंसा को सुन कर एक दूसरा साधु ईर्ष्या में दग्ध हो गया।

और वह भी पुनः उसी वेश्यापन को छोड़ कर बनी हुई

नूतन श्राविका के घर पर चतुर्मास करने को चला गया किन्तु वह वहाँ डिग गया तब उस श्राविका ने उस डिगे हुए साधु को बड़ी सुन्दर युक्ति से शील रत्न की महिमा दर्शाते हुए संयम में स्थिर किया। अतः श्री स्थूलभद्र जी ने भगवान महावीर से २१५ वर्ष के बाद स्वर्ग प्राप्त किया था और आपने बहुत ही उत्कृष्ट संयम का पालन किया।

१०—श्री महागिरीजी स्वामी—

आपने श्रीमहावीर भगवान से २४५ वर्ष बाद स्वर्ग प्राप्त किया। इसी प्रकार और भी बहुत से उत्तम-उत्तम क्रिया के करने वाले प्रभाविक सन्त महात्मा हुए हैं, जिनके नाम आगे दिये जाते हैं।

(११) श्री सुहस्तिजी सूरि
(१२) श्री सुस्थितजी सूरि
(१३) श्री इन्द्रदिन्नजी सूरि
(१४) श्री आर्यदिन्नजी सूरि
(१५) श्री सिंहगिरिजी सूरि
(१६) श्री वयरजी स्वामी
(१७) श्री वज्रसेनजी स्वामी
(१८) श्री आर्य रोहजी स्वामी
(१९) श्री पुष्पगिरिजी स्वामी
(२०) श्री फल्गुमित्रजी स्वामी
(२१) श्री धरजी सूरि स्वामी
(२२) श्री शिवभूतिजी सूरि
(२३) श्री आर्यभद्रजी सूरि स्वामी
(२४) श्री आर्य नक्षत्रजी सूरि स्वामी
(२५) श्री नागेन्द्रजी सूरि स्वामी
(२६) श्री आर्य रक्षितजी सूरि स्वामी

(२७) श्री देवर्द्धि गणीक्षमा श्रमण जी स्वामी—भगवान् महावीर के वाद सत्ताईसवे पाठ पर श्री देवर्द्धि गणीक्षमा श्रमण जी हुए हैं।

आपको सूँठियाचार्य भी कहते हैं। आपने ही भविष्य में होने वाली जनता की स्मरण शक्ति की कमी को ध्यान में रख कर भगवान महावीर से ६८० वर्ष वाद "वल्लभीपुर" नामक प्रसिद्ध नगर में जैन संसार के समस्त दिग्गज विद्वान् मुनिराजों को एकत्र करके जैन सूत्रों को लिखवाया था।

इसके लिए जैन सघ आपका चिरकाल तक अत्यन्त ऋणी रहेगा। किन्तु आपके वाद काल के प्रभाव से साधु समाज में वहुत शिथिलता आती रही, जिसको दूर करने के लिए वीच-वीच में कितने ही सन्त पुरुपो ने अपना जीवन भयंकर आपत्तियो में डाल कर भी क्रिया का उद्धार किया और साधु धर्म को सुरक्षित रखा। यद्यपि आपके वाद साधु धर्म का चलना अति कठिन हो गया था और तरह-तरह की शाखाएँ चल निकली थीं।

अत जिस शाखा में हमारे चरित्र नायक जी हुए हैं उन्हीं का नाम निर्देश हम यहाँ पर कर रहे है। अस्तु,

(२८) श्रीचन्द्र जी स्वामी
(२९) श्री समन्त भद्रजी स्वामी
(३०) श्री धर्म घोपजी सूरि
(३१) श्री जयदेवजी सूरि
(३२) श्री विक्रमसिंहजी सूरि
(३३) श्री देवानन्दजी सूरि
(३४) श्री विद्या प्रभजी सूरि
(३५) श्री नरसिंहजी सूरि

(३६) श्री समुद्रजी सूरि
(३७) श्री परमानन्दजी सूरि
(३८) श्री विद्युतजी सूरि
(३९) श्री जयानन्दजी सूरि
(४०) श्री चरित्रजी सूरि
(४१) श्री प्रोंजजी सूरि
(४२) श्री विमलचन्द्रजी स्वामी

(४३) श्री नागदत्तजी स्वामी—आप विक्रम सम्वत १२८५ के वैशाख शुक्ला पूर्णिमा के दिन युग प्रधान-आचार्य की पदवी से सुशोभित हुए। आपने ही "ओसा" नगरी के "सुर" राजा को जैन धर्म का प्रति बोध किया था जिससे सुगणा ओसवाल प्रसिद्ध हुए।

इन्हीं के शिष्य श्री धरम घोषजी ने "नागौर" में अपने ही नाम से अपनी अलग शाखा की स्थापना की। और प्रायः एक ही स्थान पर स्थायी रूप से गद्दी बना कर रहने लगे। यहीं से जतियों की प्रसिद्धि होने लगी। परन्तु इसी शाखा में—

(४४) श्री धर्म घोषजी सूरि
(४५) श्री रत्नसिंहजी सूरि
(४६) श्री देवेन्द्रजी सूरि
(४७) श्री रत्न प्रभजी सूरि
(४८) श्री अमर प्रभजी सूरि
(४९) श्री ज्ञानचन्द्रजी सूरि
(५०) श्री मुनि शेखरजी सूरि
(५१) श्री सागरचन्द्रजी सूरि
(५२) श्री मलयचन्द्रजी सूरि
(५३) श्री विजयचन्द्रजी सूरि

(५४) श्री यशवन्तसिंहजी सूरि

(५५) श्री कल्याणजी सूरि

(५६) श्री शिवचन्दजी सूरि

(५७) श्री हीरागरजी स्वामी—श्री हीरागरजी महाराज जाति के श्रीमाल थे। आप भी नागौर के ही वासी थे। किन्तु आपने श्री शिवचन्दजी से आज्ञा प्राप्त करके क्रिया का उद्धार किया था और आपने ही अहमदाबाद के प्रसिद्ध सेठ श्रीमान् लोंकाशाहजी से शास्त्र लिखवाए थे, इसीलिए आपने अपनी शाखाका नाम "नागौरी लोंका" रख छोड़ा था।

(५८) श्री रूपचन्दजी स्वामी—श्री रूपचन्दजी महाराज ने ९ लाख रुपये का नकद धन माल त्याग कर अपनी १८ वर्ष की आयु में श्री हीरागरजी महाराज के पास दीक्षा ली थी।

आपने इतनी उत्कृष्ट तपस्या की थी कि महिम शहर में रहते हुए पूर्ण भद्र देवता आपका भक्त बन गया था और आपने अपने सदुपदेश से एक लाख अस्सी हजार घरों को जैन धर्म की पवित्र दीक्षा दी थी। तथा आपके ही पुण्य प्रताप से आपकी "नागौरी लोंका" नामक शाखा ने अत्यन्त प्रसिद्धि प्राप्त की थी।

(५९) श्री दीपागरजी स्वामी—आपने भी ३६६० घरों को जैन धर्म की दीक्षा दी थी। आपने उत्कृष्ट संयम का पालन करके आत्म कल्याण किया। और आपके बाद फिर शिथिलता आने लगी थी।

(६०) श्री वयरागरजी स्वामी

(६१) श्री वस्तु पालजी स्वामी

(६२) श्री कल्याणदासजी स्वामी

(६३) श्री भैरवदासजी स्वामी

(६४) श्री नेमीचन्दजी स्वामी
(६५) श्री आसकरणजी स्वामी
(६६) श्री वर्धमानजी स्वामी
(६७) श्री सदारंगजी स्वामी

(६८) श्री पूज्य मनोहरदासजी स्वामी—आप नागौर नगर मारवाड़ प्रान्त के एक प्रसिद्ध धन कुबेर ओसवाल घराने के रत्न थे। आपका गोत्र सुराणा था। आपने छोटी अवस्था में ही घर से निकल कर श्री सदारंगजी महाराज के पास दीक्षा ली थी। आपके अर्थात् श्री मनोहरदासजी महाराज के मन में उत्कट वैराग्य था। अस्तु—

आपने उत्कृष्ट संयम की आराधना के लिए श्री पूज्य सदारंगजी महाराज से आज्ञा प्राप्त करके क्रिया उद्धार किया और यह भी सुना जाता है कि आपने पुनः तत्कालीन प्रसिद्ध क्रियोद्धारक पूज्य श्री धर्मदासजी महाराज से भी उत्कृष्ट संयम धर्म की शिक्षा ली थी। और आपने जैन शास्त्रों का पूरी लगन के साथ गंभीर अध्ययन किया तथा उत्कृष्ट एव बहुत बड़ी बड़ी तपस्याओं द्वारा अपना आत्मिक बल बहुत बढ़ा लिया। तब आपने देश देशान्तरों में पर्यटन करके तीन चार सौ नए क्षेत्रों में धर्म प्रचार किया। कई हजार घरों को जैन धर्म की दीक्षा दी। आपकी आत्मा अतीव पवित्र थी। निःसदेह आप एक कल्प वृक्ष के समान सभी गुणों को देने वाले थे। आपने स्वयं धर्म मूर्ति बन कर अनेक प्राणियों के हृदय में धर्म का भाव उत्पन्न किया। अतः जिस उद्देश से आपने मुनि वृत्ति धारण की थी, उसकी पूर्ति की अर्थात् स्व तथा पर का कल्याण किया।

आप भगवान् महावीर से ६८ वें पाठ पर थे। इतिहासज्ञों की दृष्टि में आपका समय विक्रम की १७ वीं शताब्दी माना

जाता है। आपकी भगवान् महावीर के प्रवचनों पर पूर्ण श्रद्धा थी। पहले आपने गृहस्थ धर्म को पूर्ण रूपेण पालन किया। गृहस्थ जीवन में उन्हे वह सच्चा सुख प्राप्त न हुआ जिसकी खोज उनकी आत्मा कर रही थी। इस लिये फिर आपने साधु वृत्ति धारण की। धर्म प्रेम तो पहले ही बहुत था। दीक्षित हो कर आप ने जैन सूत्रो का दृढ़ता तथा तल्लीनता से अध्ययन किया। कुछ ही समय में आप प्रतिभाशाली पण्डित बन गये और पूर्ण मनोयोग से धर्म प्रचार आरम्भ किया। इस प्रचार कार्य में आपको बहुत कष्ट उठाने पड़े किन्तु आपने उन्हे सहर्ष और धैर्य से सहन किया।

आपके ४५ शिष्य मुनि हुए थे—जो एक से एक धुरंधर विद्वान थे। जब नागोर प्रान्त का धर्म प्रचार का कार्य उन शिष्यो ने सभाल लिया तो आप स्वय जयपुर की ओर पधारे और उस देश में नवीन क्रान्ति की लहर दौडा दी। आपके प्रचार एव साधना के मार्ग में बड़ी बड़ी अड़चने आई किन्तु आपने लेश-मात्र भी परवा न की। आप धीरता के सागर थे, अज्ञान अंधकार के दिवाकर थे, आप में वीरता, धीरता, कार्य कुशलता कूट-कूट कर भरी हुई थी।

एकदा आप अपने एक शिष्य के साथ जयपुर राज्यान्तर्गत सिघाणा नगर के समीप पर्वत के शिखर पर तप करने के निमित्त चले गये और वहाँ एकाग्र चित्त हो कर तपस्या में लीन हो गये। ग्रामवालो को कोई सूचना न थी। एक दिन अकस्मात एक चरवाहा भेड़ों का रेवड़ लेकर उस ओर आ निकला और मुनियो को तपस्या करते देख कर भयभीत हो गया और चीतकार करने लगा। ऐसी अवस्था में पूज्य श्री जी ने ध्यान से उठकर उसे सात्वना दी और धैर्य बधाते हुये कहा कि

तुम डरो नहीं हम तो साधु हैं किसी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं देते। उसने जाकर ग्राम में सूचना दी और यह सुन कर वे लोग समूह रूप में दर्शनो के लिए आने लगे। महाराज श्री ने उन्हे उपदेश दिया और वे बड़े प्रभावित हुए। फिर वे लोग पूज्य श्री को विज्ञप्ति करके सिघाणा नगर में ले गये। वहाँ पर बड़े महत्त्व पूर्ण और रहस्य युक्त उपदेश हुये। जिनसे प्रभावित होकर लगभग २०० परिवारों ने सम्यक्त्व ग्रहण की।

तत्पश्चात् आप जमना पार चले गये और उस प्रदेश में खूब धर्म प्रचार कर के ३०० के करीव क्षेत्र खोले जहाँ के लोग आज भी भगवान् महावीर के पुनीत प्रवचन का आश्रय लेकर अपना जीवन पवित्र कर रहे हैं। आप सम्पूर्ण चतुर्मास में चार दिन ही आहार किया करते थे। इस प्रकार आपने अपने जीवन को सर्व प्रकार शुद्ध एवं पवित्र करके स्वर्गप्राप्त किया।

(६६) पूज्य श्री भागचन्दजी महाराज—आपकी आत्मा भी बड़ी स्वच्छ थी। आपने अपने पूज्य गुरुवर्य के साथ मिल कर सिंहाना के पहाड़ पर एक एक महीने के व्रत कई बार किये। आप बड़े भाग्यवान् साधु थे। आपका स्वभाव सरल, हृदय शुद्ध और भाव निर्मल थे। अतीव क्षमा के सागर थे और इस प्रकार अहिंसा की मानो मूर्ति थे। आप की भावना सदा यही रहती थी कि वीर सन्देश घर घर पहुँचे और इस के निमित्त आपने स्थान स्थान पर भ्रमण कर के धर्म प्रचार किया।

आपके जीवन की प्रचार सम्बन्धी बहुत-सी घटनाएँ हैं। केवल एक घटना यहाँ पर उल्लेख की जाती है।

शरत काल था। बड़े कड़ाके की सरदी पड़ रही थी। पूज्य श्री भाग्यचन्द्र जी म० अपने शिष्य श्री सीतारामजी को साथ लेकर जमना पार के प्रदेश में भगवान महावीर का सन्देश

भव्य जीवों को सुनाते हुए विचर रहे थे। एक दिन आप किसी ग्राम को जा रहे थे। सन्ध्या का समय हो गया, ग्राम दूर था इसलिए मार्ग में हीं ठहर जाने का विचार किया किन्तु पुनः एक अन्य समीपवर्ती नगर कांधला में जा पहुँचे । वहाँ किसी ने ठहरने का स्थान न दिया। अन्ततः एक भद्र वैश्य आया और उसने कहा कि मेरा एक टूटा-सा छप्पर है और उसके साथ एक छोटी-सी दुकान है वहाँ आप ठहर सकते है। पूज्य श्री जी वहाँ चले गये। अभी वहाँ छप्पर के नीचे पहुंचे ही थे कि उस सज्जन के घर से एक व्यक्ति ने आकर कहा कि तुमको घर में किसी अत्यन्त आवश्यक कार्य के लिए तत्काल बुलाया जा रहा है। वह भाई महाराज को यह कह कर चला गया कि मैं अभी आता हूँ, परन्तु घर पहुँच कर अपने आवश्यक धन्धों में प्रवृत्त हो जाने से वह साधु जी को भूल गया और वहाँ लौट कर गया ही नहीं। पूज्य श्री जी सारी रात वहीं खड़े के खड़े ही रह गये। अति शीत वायु के झोके आकर लगते रहे किन्तु यह भगवान महावीर स्वामी के सच्चे अनुयायी वहाँ अचल खडे रहे और स्थान दाता की आज्ञा का पालन पूर्णरूपेण करते रहे। क्योंकि उसने कहा था कि आप यहीं ठहरिये। जब रात्रि व्यतीत हो गई और दिन हो गया तो वह सज्जन अपनी दुकान की ओर से होकर निकला तो देखा साधु जी खड़े हैं। उसने उनसे कहा महाराज क्या आप अभी जा रहे हैं तो महाराज श्री ने कहा कि भाई अभी तो आना ही समाप्त नहीं हुआ। हम तो वहीं खडे हैं जहाँ आप छोड गये थे। वह वैश्य यह सुनकर सन्न और स्तब्ध हो गया और कहने लगा क्या आपने दुकान के अन्दर विश्राम नहीं किया ? तब आपने कहा कि भाई हमारे प्रभु का हमें आदेश है कि किसी की

आज्ञा के बिना उसके स्थान पर मत ठहरो। यह सुनकर वह सज्जन बहुत ही विस्मित रह गया। और पुनः पुनः क्षमा मांगने लगा। और प्रार्थना की कि—अब आप अवश्य ही मेरे मकान पर कुछ दिन ठहरने की कृपा कीजिये। पूज्य श्री उसकी श्रद्धा भक्ति को देखकर ठहर गये। नगर वालों ने जब यह घटना सुनी तो आश्चर्य युक्त हुए एवं बड़े ही चकित रह गये और झुंड के झुंड दर्शनों के लिये आने लगे। फिर पूज्य श्री ने अपने व्याख्यान प्रारम्भ किये। जिनको सुनने के निमित्त नर नारी बड़ी भारी संख्या में आने लगे और पूज्य श्री के पावन प्रवचनों को सुनकर लाभ उठाने लगे। इन उपदेशों का यह फल हुआ कि वहाँ पर लगभग अढाई या पौने तीन सौ परिवार जैन धर्म के अनुयायी बनकर भगवान महावीर स्वामी के प्रवचन के श्रद्धालु बन गये।

(७०) पूज्य श्री सीतारामजी महाराज—आप नारनौल के एक विख्यात अग्रवाल जैन घराने के नवयुवक थे। पूज्य श्री भागचन्द्रजी महाराज से दीक्षा प्राप्त करके आपने अपने जीवन का उद्देश्य पर-उपकार और धर्म प्रचार बनाया। प्रारम्भ में अपने पूज्य गुरुदेव के साथ ही विहार करके जिन वाणी का प्रचार करते रहे और फिर स्वतन्त्र रूप से भी बहुत से स्थानों पर पहुँच कर लोगों की धर्म-पिपासा को शान्त किया और जैन धर्म के सिद्धान्तों की महत्ता अपने मधुर भाषणों द्वारा प्रकट की। आप अतीव शुद्ध चरित्रवान् और शीलयुक्त श्रेष्ठ साधु थे। ब्रह्म-चर्यपालन पर आप अपने पवित्र उपदेशों में बहुत अधिक बल दिया करते थे और कहा करते थे कि भले ही कोई साधु हो या गृहस्थ वह अपने जीवन रूपी महल को ब्रह्मचर्य की नींव बिना खड़ा नहीं कर सकता। आप बड़े ही धर्मात्मा और पवित्रात्मा

महात्मा थे। सदा ही समस्त जीवों के कल्याण की भावना आपके हृदय में प्रदीप्त रहती थी। यावज्जीवन आपने अपना सयम व्रत पूर्ण श्रद्धा तथा भक्ति से पालन किया। साधु वृत्ति को नियम पूर्वक निभाया। अपने शिष्यों को उनका यही आदेश होता था कि संसार भर में भगवान् महावीर की पवित्र शिक्षाओं का प्रचार करो। उसी से सुख और शान्ति की उपलब्धि हो सकती है। गृहस्थियों को वह सदा धर्म से धनोपार्जन की शिक्षा दिया करते थे और कहते थे कि अधर्म से तथा अन्याय से लाया हुआ धन बड़े उपद्रव उत्पन्न करता है।

आप जैन तथा जैनेतर शास्त्रों के प्रकाण्ड पडित थे। आपको पूज्य पदवी मिली हुई थी आपके आचार्य काल में सम्प्रदाय की बड़ी उन्नति हुई।

(७१) पूज्य श्री शिवरामदासजी महाराज—आप देहली के श्रीमाल जाति के एक उच्च जैन घराने के लाल थे। बाल्यकाल से ही आपके हृदय में वैराग्य उत्पन्न हो गया था। ससारी सुख आपको विषवत् प्रतीत होते थे। छोटी अवस्था में ही आपकी रुचि धर्म की ओर थी। सन्तों की संगत में आप बड़ा सुख प्रतीत करते थे और धर्म कथाएँ सुनकर बड़े प्रसन्न होते थे। साधारण बालकों की तरह आप कभी व्यर्थ प्रलाप नहीं करते थे। आपकी मूर्ति बड़ी सौम्य और सरल थी। प्रारम्भ से ही आपको झूठ बोलने से घृणा थी। सत्य पर दृढ़ रहते हुए यदि आपको कुछ कष्ट भी होता था तो उसकी कुछ परवाह न करते थे। किसी पराई वस्तु को प्रयोग में लाना तो दूर रहा अपितु छूते भी नहीं थे। एवं अन्य भी सद्गुणों का विकास आपकी अन्तरात्मा में होता रहता था।

एक बार जैन साधुओं के धर्म और परोपकार के विषय

पर व्याख्यान सुनकर आप बड़े प्रभावित हुए। इसलिये रोज कथा में जाने लगे। संसार की अनित्यता और मनुष्य भव की क्षण भङ्गुरता, इत्यादि विषयों पर जैन सन्तों के तथा जिन वाणी के पवित्र विचार सुनकर आपके कोमल हृदय में तीव्र वैराग्य हो गया। इसलिये संयम धर्म ग्रहण करके खूब धर्म-प्रचार किया। आपके जीवनकाल में मुसलमान बादशाहो की तलवारें चमचमाती रहती थीं और कितनी ही बार आप मौत के मुंह से बचे थे।

अतः आपकी माता ने आपको एक बार लूट मार के समय फूँस के ढेर में छुपाकर आपकी प्राण रक्षा की थी। दूसरी बार तलघर में तीन दिन तक छुपाकर प्राण रक्षा की थी। और आपके स्वर्गवास के बाद भी आपके विमान पर झगड़ा हो गया था, किन्तु आपने पहिले से ही सब सूचना श्रावकों को देदी थी इससे सभी कार्य शान्ति से पूर्ण हो गये थे। आपने सदैव तलवारो की छाया में सत्य धर्म का प्रचार किया था। आपके बहुत से शिष्य साधु हुए थे। ,जिनमें से अब केवल दो का ही परिवार विद्यमान् है। अर्थात् परमप्रतापी तपस्वीराज शान्त मुद्रा परमपूज्य श्री हरजीमलजी महाराज और परम प्रतापी शान्त मुद्रा पूज्य श्री नूणकरणजी महाराज, इन दोनों के परिवार में बहुत से उत्तम-उत्तम साधुओ ने सत्य धर्म का प्रचार करके आत्म कल्याण किया है।और कर रहे हैं।

श्री हरजीमलजी महाराज के परिवार में—परम पंडित पूज्य श्री रतनचन्दजी महाराज, पं० श्री कंवरसैनजी म०, त० श्री विनय-चन्दजी म०, प० श्री चतुरभुजजी म०, एवं हमारे चरित्र नायक श्री ऋषिराजजी म० हुए हैं। प० श्री कंवरसैनजी म०, तपस्वी श्री विनयचन्दजी म०, प० श्री चतुरभुजजी म० ये तीनों प०

श्री रतनचन्दजी म० के शिष्य थे। इनमें तपस्वी श्री विनयचन्द जी महाराज के अपना शिष्य बनाने का और गुड़ के अतिरिक्त अन्यसब मिठाइयो का यावज्जीवन का विशेष त्याग था। पडित श्री चतुरभुज जी म० की परम्परा में श्री भरताजी म० श्री सुखानन्दजी म० श्री लालचन्दजी म० हो चुके हैं। इनके तीन शिष्य पं० श्री विमलचन्दजी म०, तपस्वी श्री भजनलालजी म० एव श्री विनयकुमारजी म० आदि स्वतत्र रूप से विचरण कर रहे है।

और पूज्य श्री नूणकरणजी महाराज के परिवार में— पूज्य श्री तुलसीरामजी महाराज, परम तपस्वी श्री सेवगरामजी महाराज, परम तपस्वी श्री ख्यालीरामजी महाराज, पडित श्री धनीदासजी म०, त० श्री पूर्णचन्द्रजी म० एव श्री परम प्रतापी श्री मगलसेनजी महाराज हुए हैं। आगे श्री मगलसेनजी म० के परिवार में दो शिष्यों का परिवार विद्यमान है। जिनमें प्रथम शिष्य पडित श्री रुगनाथदासजी महाराज अपने सुयोग्य शिष्य पंडित श्री ज्ञानचन्दजी म० श्री खुशालचन्दजी म० श्री जैचन्दजी म० आदि के साथ स्वतंत्र रूप से विचरण कर रहे हैं। प० श्री रुगनाथदासजी म० का विस्तृत जीवन चरित्र श्री खुशालचन्दजी म० के द्वारा लिखा जा चुका है। तथा श्री मगलसेनजी महाराज के दूसरे शिष्य-परम प्रतापी शान्त मुद्रा पूज्य श्री मोतीरामजी महाराज हो चुके हैं, जो कि बहुत ही पवित्र आत्मा अति उत्कृष्ट सयम की आराधना करने वाले एव महान् सगठन प्रिय महात्मा थे। आपका भी विस्तृत जीवन चरित्र, आदर्श जीवन के नाम से आपके ही प्रिय प्रशिष्य कविरत्न उपाध्याय पडित श्री अमरचन्द्रजी महाराज द्वारा लिखा गया है और रा० ब० जैन समाज भूषण सेठ ज्वाला-प्रसादजी माणकचन्दजी जैन महेन्द्रगढ़ (पटियाला स्टेट) द्वारा

प्रकाशित हो चुका है। आपके शिष्य प्रशिष्य परम प्रतापी जैनाचार्य पूज्य श्री पृथ्वीचन्द्रजी महाराज, कविरत्न उपाध्याय पंडित श्री अमरचन्द्रजी महाराज, शान्त मूर्ति सेवा प्रिय पण्डित श्री अमोलकचन्द्रजी महाराज, साहित्य रत्न साहित्य शास्त्री पंडित श्री विजयचन्द्रजी म० एवं साहित्य रत्न साहित्य शास्त्री मनोहर वक्ता पंडित श्री सुरेशचन्द्रजी म० तो वर्तमान में जैन समाज में दिवाकर की तरह से प्रकाश कर रहे हैं। इनके सम्बन्ध में अधिक लिखना तो सूर्य को दीपक दिखाने के समान है।

अस्तु हमारे चरित्र नायक पंडित रत्न चारित्र चूडामणी पूज्य गुरुदेव श्री ऋषिराजजी महाराज की गुरु परम्परा में जो जो उत्तम मुनिराज हुए हैं उनका संक्षिप्त परिचय आगे के पृष्ठों में दिया जाता है।

(७२) परम पूज्य श्री हरजीमल जी महाराज—आपका जन्म मलकपुर जिला मेरठ उ० प्र० में हुआ था। आपकी माता जिनका शुभ नाम श्रीमती भागवती देवी था जो वास्तव में बडी ही भाग्यवती थीं। उन्हीं श्रीमती जी की कुक्षि से महा भाग्यशाली पुण्य पुंज, अनुपम रूपधारी एक बालक उत्पन्न हुआ। माता-पिता ने पुत्र के विशाल ललाट को देखकर बड़ा हर्ष किया और नामकरण संस्कार करके हरजीमल नाम स्थापन किया। बाल्यकाल से ही आपकी रुचि धर्म की ओर थी और भक्ति में आपका बहुत जी लगता था। एकदा आपने पूज्य मुनि श्रीमनसुखराय जी के पवित्र उपदेश श्रवण किये। जिन्होंने मनुष्य जन्म को सफल करने के निमित्त शीघ्रातिशीघ्र सांसारिक धन्धों से विरक्त होने के विषय में बड़े सुन्दर उपदेश दिये। उनके सुनने से आपके सुकोमल हृदय में वैराग्य की तरंगे

उमड़ आईं। जब इनका वेग अतीव तीव्र हो गया तो आपने पूज्य श्री शिवरामदास जी महाराज से दीक्षा ग्रहण की। इसके बाद गुरुदेव से अनेक प्रकार का शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त किया। तदनन्तर शास्त्र स्वाध्याय के साथ साथ बहुत सी लम्बी, लम्बी तपस्यायें भी कीं और जीवन को शुद्ध एवं निर्मल बनाया। तत्पश्चात् आपने अपनी पिछली आयु में सात वर्ष तक बेले बेले पारणा तथा कई अधिक काल की कठिन तपस्याएँ भी की। आपने अपने जीवन काल में कई बार बागड देश, पंजाब प्रान्त, देहली और उ० प्र० के बहुत से नगरो में भ्रमण करके धर्म-प्रचार किया। और जैन धर्म का महान् उद्योत किया। अन्ततः सं० १८८८ में, भरतपुर में माघ शुक्लाष्टमी के दिन डेढ़ दिन का संथारा लेकर स्वर्गवास प्राप्त किया। उस समय आपके पास १६ साधु विराजमान थे। आपने अपना मुनि-जीवन अतीव पवित्रता, धीरता तथा सहिष्णुता से व्यतीत किया। आपके अन्दर अनेक विशेष गुण विद्यमान थे। कञ्चन और कामिनी का सर्वथा त्याग करके आपने मोह-ममता का पूर्णतया निवारण किया था। इन्द्रियों तथा मन को दमन करके आपने अपनी आत्मा को उज्ज्वल बनाया था। आपका स्वभाव चन्द्रमा के तुल्य शीतल था किन्तु तेज में आप सूर्य के समान थे। आपने सत्य को अपना जीवन-अङ्ग बनाया था। आप भय तथा भ्रम के रोधक थे। जिनधर्म के मर्मों को पूर्णतया समझ कर उनके सूक्ष्म तत्त्वों को बड़ी सरलता तथा स्पष्टता से वर्णन किया करते थे। आप सत्य धर्म के साधक और मिथ्यात्व के बाधक थे। आपकी वाणी मधुर और रसीली थी। श्रोता लोग उससे अधिकाधिक लाभ उठाते थे। उन्हे ऐसा प्रतीत होता था जैसे वास्तव में कोई ऋषि बोल रहा हो।

(७३) पूज्य गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी महाराज—आपका शुभ जन्म सिघाणा नगर के समीप "तातीजा" ग्राम (जैपुर स्टेट) में सं० १८५० के भाद्रपद कृष्णा चतुर्दशी के दिन हुआ था। प्रारम्भ से ही आपको सत्यधर्म के पालन की विशेष रुचि रहती थी और जैन सन्तो के पवित्र सत्संग से आपके शुद्ध हृदय में वैराग्य भावना का और भी तीव्र अंकुर फूट चुका था। आपके पूज्य पिताजी श्रीमान् चौधरी "गंगाराम जी" गुर्जर क्षत्रिय थे और आपकी पूज्य माताजी का शुभ नाम श्रीमती सरूपादेवी जी था। जब आपकी वैराग्य भावना कुछ तीव्र हो गई तो आपने संयम धर्म ग्रहण करने की भावना प्रगट की। इस पर आपके बन्धु-बान्धवों ने आपको समझाया कि तुम अभी अच्छी तरह सोच विचार लो। आप इस बोझ को सम्पूर्ण आयु तक उठा सकते हो तो अवश्य उठाओ, नहीं तो यह संकल्प छोड़ कर गृहस्थ में ही धर्म का पालन करो। यह बातें सुन कर श्री रत्नचन्द्रजी की वैराग्य भावना पहिले से भी अधिक दृढ हो गई और कहने लगे—जो निश्चय हो गया है वह अटल है। किसी प्रकार भी टल नहीं सकता। आपने कहा कि अब तो दीक्षा लेकर ही सारी उमर संयम धर्म का पूर्ण पालन करते हुए ही व्यतीत करेंगे। इस प्रकार यह पुरुष रत्न अपने उच्च विचारो में दृढ़ रहे। फिर,आपने दीक्षा प्राप्ति के लिए परम पूज्य तपस्वीराज श्री हरजीमल जी महाराज के पुनीत चरण कमलों की शरण ग्रहण की।

महाराज श्री ने उनकी आग्रहपूर्ण प्रार्थना को सुनकर उन्हें फिर समझाया कि यह साधुवृत्ति अति दुष्कर है। अपने सामर्थ्य को अच्छी तरह देख लो। यह सुनकर आपने कहा कि गुरुदेव ! मैं पहिले ही इन सब बातों का भली प्रकार विचार

कर चुका हूँ। मैं जानता हूँ भिक्षु वृत्ति महा कठिन है और खड्ग की धार पर चलने के तुल्य है। तथापि मेरा जो निश्चय बन चुका है, वह अटल है। इत्यादि प्रतिज्ञापूर्ण वचनों से जब श्री गुरुदेव ने अच्छी तरह जान लिया कि श्री रत्नचन्द्र जी की वैराग्य भावना सच्ची है, तब उन्होंने इनकी इस पवित्र प्रार्थना को स्वीकार करके शुभ मुहूर्त देखकर नारनौल (पटियाला स्टेट) में ही विक्रम संवत् १८६२ के भाद्रपद शुक्ला षष्ठी शुक्रवार के दिन आपको मुनि दीक्षा दी। आपके दीक्षा गुरु परम पूज्य तपस्वीराज श्री हरजीमलजी महाराज थे और शास्त्रों का गंभीर अध्ययन आपने तत्कालीन प्रकाण्ड पण्डित श्री लक्ष्मीचन्द्र जी महाराज से किया था अतः आपने अपने गुरुदेव के तुल्य ही विद्वत्ता प्राप्त की।

आप अपने समय के महान् धुरन्धर विद्वान् ज्ञान के सागर कहे जाने लगे। आपने अपनी विद्वत्ता और योग्यता के बल पर बहुत से ग्रन्थों की रचनाएं भी की थीं। जिनमें मोक्षमार्ग प्रकाश, प्रश्नोत्तर माला, नव तत्त्व, गुणस्थान विवरण, दिगम्बर मत चर्चा, तेरह पथ मत चर्चा आदि मुख्य हैं।

आप अपने समय के बड़े ही प्रसिद्ध चर्चावादी थे। आपने जैन सिद्धान्तों के सम्बन्ध में कितने ही शास्त्रार्थ भी किये थे। जिनमें एक तेरह पन्थी मत के प्रसिद्ध आचार्य पं० श्री जीतमलजी म० से दया-दान के विषय पर सं० १६१० में जैपुर में हुआ था। और दूसरा सं० १६१७ में लश्कर ग्वालियर में सम्वेगी मत के प्रसिद्ध पण्डित मुनि श्री रतनविजय जी म० से मूर्तिपूजा के विषय पर हुआ था। आपकी तर्कणा शक्ति और भाषण शैली इतनी प्रबल थी कि जितने भी शास्त्रार्थ हुए उन सबमें आपको ही विजय प्राप्त हुई। और आपने बहुत से नवीन क्षेत्रों को

जैन धर्म की दीक्षा दी थी। तथा हजारों क्षेत्रों में पर्यटन करके जैन धर्म का महान् प्रचार किया था। अधिक क्या—अधिकतर पंजाब, राजपूताना और यू० पी० के बहुत से नगरों में आपने अपने मनोहर व्याख्यानों द्वारा अमृत वर्षा की थी आपके स्वदीक्षित शिष्य २१ थे। जिनमें से तीन प्रसिद्ध हुए हैं। सर्व प्रधान पंडित श्री कंवरसैनजी महाराज थे जो हमारे चरित्रनायकजी के खास गुरु थे। दूसरे पंडित श्री विनयचन्द्रजी महाराज थे। जिन्होंने बहुत सी साधु के कल्प में आने वाली चीजों का भी त्याग किया हुआ था। और अपने नाम का शिष्य बनाने का भी यावज्जीवन के लिए विशेष त्याग किया हुआ था। इसी प्रकार और भी बहुत से त्याग किये हुए थे। अस्तु आपने अपने सभी नियम जीवन पर्यन्त बडी श्रद्धा भक्ति एवं दृढता से पालन किये थे। तीसरे शिष्य पं० श्री चतुरभुजजी महाराज थे। जो बडे दिग्गज विद्वान् थे।

श्री रत्नचन्द्रजी महाराज अपने युग के एक महान् प्रभावशाली मुनि थे। आपकी विद्वत्ता और गम्भीरता से अन्य सम्प्रदाय के साधु भी आप से अत्यन्त प्रभावित रहते थे। समय समय पर अन्य सम्प्रदाय के साधु और श्रावक आप से शास्त्राध्ययन और तत्त्वचर्चा करके अपने ज्ञान कोप में अभिवृद्धि करते रहते थे। अन्य सम्प्रदाय के अनेक साधुओं को विद्यादान देकर आपने उन्हें विद्वान् बनाया। विशेषत पंजाब सम्प्रदाय के साथ आपका बहुत ही गहरा और मधुर सम्पर्क था।

पंजाब के तेजस्वी आचार्य श्री अमरसिंहजी महाराज के साथ आपका बहुत ही गहरा स्नेह सम्बन्ध था। श्री अमरसिंहजी महाराज को आपके साथ तत्त्वचर्चा और सिद्धान्त विचारणा करके विशेष आनन्दानुभव होता था। आप दोनों ने पंजाब

और उत्तर प्रदेश में अनेक बार सम्मिलित विहार यात्राएँ भी की थीं। श्री रत्नचन्द्रजी महाराज ने श्री अमरसिंहजी महाराज के पूज्य पदवी महोत्सव पर भी महत्वपूर्ण भाग लिया।

इसी प्रकार मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के आचार्य श्री विजयानन्द सूरि ने भी आपके पास शिष्य रूप में संस्कृत, प्राकृत और जैनागमों का गहन अध्ययन तथा तत्व चिन्तन करके अत्यधिक लाभ उठाया था। श्री रत्नचन्द्रजी महाराज की विद्वत्ता से आप अत्यन्त प्रभावित थे।

जिस समय पटियाले में तपस्वी श्री जयन्तिलालजी महाराज अनशन करने का विचार कर रहे थे उस समय आपने ही अम्बाले से पटियाले में पधार कर श्री तपस्वीजी महाराज को उचित परामर्श दिया था और कहा था कि अनशन का काल बहुत लम्बा हो जावेगा अत उस समय यह अनशन पूरे तीन मास तक चलता रहा। और पूरे तीन मास के बाद बड़ी निर्विघ्नता से सानन्द सम्पन्न हुआ था।

अस्तु, समस्त भारत के अन्य भी तत्कालीन बड़े-बडे विद्वान् मुनिराज बहुत सी शास्त्र सम्बन्धी गहन गुत्थियों को समझने के लिए आपसे ही सत् परामर्श लिया करते थे। अत' आप एक से एक जटिल गुत्थियों को बड़ी सरलता से एव बड़ी शीघ्रता से सुलझा दिया करते थे। इस सम्बन्ध में बहुत से उस समय के आये हुए मुनिराजों के प्राचीन पत्र आपकी महान् विद्वत्ता एवं उदारता का पूर्ण परिचय दे रहे हैं।

आपने आगरा लोहामंडी, हाथरस, हरदुआगंज, जलेसर, लश्कर आदि अनेक क्षेत्र नूतन प्रति बोधित किये थे। इन क्षेत्रों में आपकी ही महान् कृपा का शुभ परिणाम है कि जो आज-कल भी वहाँ के बहुत से सज्जन विशुद्ध जैन धर्म का पालन

करके अपनी आत्मा का परम कल्याण कर रहे हैं। उस समय तो आपने एक अकेले जलेश्वर क्षेत्र में ही करीब तीन सौ घरों के ब्राह्मणों को जैन धर्म की सत्य शिक्षा देकर उनको सत्य धर्म के अर्थात् जैन धर्म के पथिक बना दिये थे और आपके बाद में भी बहुत वर्षों तक वे उसी प्रकार से जैन धर्म के नियमों का पालन करते रहे थे किन्तु इसके बहुत दिनों पश्चात् वहाँ पर किसी अन्य विद्वान् साधु के न पहुँचने से धीरे-धीरे करके उनकी वंश परम्परा में से यह सत्य जैन धर्म छूट गया है। फिर भी हाथरस, लोहामंडी आगरा, आदि बड़े क्षेत्रों में तो अभी तक उसी प्रकार से उसी सत्य पूर्ण जैन धर्म का पालन करते हुए आत्म कल्याण किया जा रहा है। आगरे के सभी भव्य प्राणियों ने आपके सत्य उपदेशामृत से विशेष लाभ उठाया है।

आप वस्तुतः परम त्यागी संत थे। एक बार नहीं किन्तु अनेक बार आपको समस्त संघ ने एकत्र होकर आचार्य पद देने का संकल्प किया और बड़ी दृढ़ता से आपसे स्वीकार करने की आग्रह पूर्ण प्रार्थनाएँ की गईं किन्तु आपने आचार्य पद के महान् उत्तरदायित्व को अस्वीकार करते हुए सामान्य साधु के समान नम्रता एवं सरलता के साथ समस्त संघ की महान् से महान् अमूल्य सेवाएं की। आपका यह त्याग सर्वोपरि एवं आदर्श त्याग है। और बड़ा ही प्रशंसनीय है। आपके इस आदर्श त्याग से वर्तमान काल के पद लोलुप साधु समाज को जो आचार्य आदि पदों की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के झूठे प्रपञ्च करता रहता है। एवं अपने आदरणीय गुरु भ्राताओं तक से संघर्ष खड़े करके शत्रुता पैदा कर लेता है। उसको विशेषतया शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये। देखिये, जरा अन्तर्दृष्टि से खूब अच्छी तरह देखिये परम पूज्य पंडित रत्न

श्री श्री १००८ श्री रत्नचन्द्रजी महाराज ने आचार्य पद के सर्व प्रकार से अधिकारी होते हुए भी एवं समस्त संघ के कितनी ही बार आग्रह पूर्ण प्रार्थनाएँ करने भी "आचार्य पद" स्वीकार नहीं किया। आप उस समय समस्त भारत में अद्वितीय विद्वानों में से थे। सुना जाता है कि आपको ४२ तो कोश कंठस्थ याद थे। और संस्कृत प्राकृत व्याकरण न्याय, काव्य, कोश, छन्द, अलङ्कार एवं ज्योतिष आदि में भी आप एक धुरंधर विद्वान् थे। बड़े-बड़े अंग्रेज पादरियों ने भी अनेक बार आपसे धर्म चर्चाएँ की थी, जिनमें आपको ही विजय प्राप्त होती थी। अन्त में समस्त पादरी गण एव उपस्थित श्रोता गण भी आपके चरणों का दास बन कर आपकी भूरि-भूरि प्रशंसा करता रहता था।

आपकी जैसी शान्त मुद्रा थी वैसा ही आपका हृदय भी शान्त था। आप प्रायः राग द्वेष आदि दोषों से दूर रहते थे। आपकी वाणी में एक विशेष प्रकार का रस और विशिष्ट चमत्कार होता था और आपकी गंभीर शब्द ध्वनि भी प्रायः एक मील तक पहुंचजाती थी। ऐसा सुना जाता है कि विनौली (जि० मेरठ) में व्याख्यान प्रारम्भ करने से पहिले श्री नमोकार मंत्र का उच्चैं स्वरेण उच्चारण करते थे तो वहाँ से पूरे एक मील पर स्थित 'शेखपुरा' नामक गाँव से श्रावक गण श्री नमोकार मंत्र की गंभीर शब्द ध्वनि सुनकर ही व्याख्यान सुनने के लिए विनौली आया करते थे। अस्तु, जो भी एक बार आपके मधुर एवं तर्क पूर्ण भाषण सुन लेता था वह तत्काल ही मुग्ध हो जाता था। बहुत से पक्षपात रहित जैनेतर सज्जन भी आपकी पवित्र वाणी से प्रभावित होकर आपके दृढ श्रद्धालु सम्यक्ती श्रावक एवं सत्य भक्त बन जाते थे और बडी रुची से आपके मनोहर धर्मोपदेशो को श्रवण करके परम आनन्दित होते थे। आपके

मस्तक पर पूर्ण ब्रह्मचर्य का महान् तेज सूर्य की तरह से चमकता था। आपने संयम धर्म का बड़ी दृढ़ता से और नियम परायणता से पालन किया था।

अस्तु, आपने ५६ वर्ष तक शुद्ध संयम पालन करके एव बहुत से भव्य आत्माओं का कल्याण करके ७१ वर्ष की आयु में लोहामंडी आगरा के नव निर्मित एव भव्य जैन भवन (जैन पोषध शाला) में आठ दिन पूर्व ही श्री संघ के समक्ष पूर्णतया आलोचना प्रत्यालोचना करने के अनन्तर यावज्जीवन के लिए अनशन (संथारा) करके वि० सं० १९२१ के वैशाख शुक्ला चतुर्दशी शुक्रवार को सायंकाल के ५ बजे बड़े ही शुद्ध भावों के साथ पञ्च परमेष्ठी मन्त्र का उच्चारण करते हुए स्वर्गवास प्राप्त किया। और दूसरे दिन वै० शु० पूर्णिमा शनिवार के प्रातः दश बजे हजारों नर नारियों के समक्ष आपके शव सम्बन्धी विमान को बड़ी धूम धाम से सभी बड़े बड़े बाजारों में से भजन कीर्तन करते हुए बाहर स्मशान भूमि में ले जाकर चन्दन निर्मित चिता में रख कर घृत कर्पूर आदि के द्वारा अग्नि संस्कार किया गया। तथा समस्त भारत के समस्त जैन संघों ने आपके स्वर्गवास हो जाने पर शोक सभाएँ की। अधिक क्या लोहामंडी में तो कई दिन तक आपके शोक में समस्त बाजार बन्द रहा। और जैन श्रावक संघ के द्वारा आपके पवित्र चिता स्थान पर एक चैत्य स्मारक "श्री रत्नमुनि समाधी भवन" नाम से बनाया गया। जो आज भी बहुत ही सुन्दर स्थान बना हुआ है। और लोहामंडी के बाजार में भी एक स्मारक तैयार किया गया है जिसमें आजकल वहां पर आपकी पुण्य स्मृति में "श्री रत्न मुनि जैन स्कूल" नाम से लड़कों का एक स्कूल चल रहा है। दूसरे यहां पर आपकी पुण्य स्मृति में "श्री रत्न मुनि जैन धर्मार्थ औषधालय" चल रहा है। यहां से

विना किसी साम्प्रदायिक भेद भाव के सभी मनुष्यों को अमूल्य औषधियाँ वितीर्ण की जाती हैं। इसी पवित्र स्थान पर "श्री वीर पुस्तकालय" चल रहा है जिसमें ५-६ हजार सुन्दर सुन्दर पुस्तकों का बहुत अच्छा सग्रह है। और बहुत से सामयिक समाचार पत्र भी इससे सम्बन्धित वाचनालय के लिए आ रहे हैं। जहाँ हजारों सज्जन समय २ पढ़कर लाभ उठाते हैं। इसी के बीच में एक व्यायाम शाला भी चल रही है। जिसमें नव-युवको की शारीरिक उन्नति के लिए बहुत ही सुन्दर सुन्दर प्रयत्न किये जाते हैं। इसी प्रकार यहाँ की जैन महिला समाज की ओर से आपकी पुण्य स्मृति में "श्री रत्न मुनि जैन कन्या स्कूल" चल रहा है। ये सभी सस्थाएँ जनता की अच्छी सेवाएँ कर रही हैं।

अभी यहाँ पर आपकी पुण्य स्मृति में "श्री रत्न मुनि जैन महा विद्यालय" अर्थात् श्री रत्न मुनि जैन कालेज की स्थापना का शुभ आयोजन चल रहा है जिसके लिए यहाँ के उत्साही सज्जन बहुत प्रयत्न कर रहे हैं। अतः इसके लिए वहुत विस्तीर्ण भूमि का प्रबन्ध तो हो चुका है। यह भूमि ३०-४० हजार रु० की महान् रकम से मोल ले कर "श्री रत्न मुनि जैन महा विद्यालय" के नाम से रजिस्टर्ड हो चुकी है, आगे के प्रबन्ध के लिए पूर्ण प्रयत्न हो रहा है आशा है पूज्य गुरुदेव की महान् कृपा से एव दृढ़ व्रती नि स्वार्थ-सेवकों के सत्य प्रयत्न से उनकी सुन्दर भावनाएँ शीघ्रातिशीघ्र सफल होंगी। यह श्री रत्न मुनि जैन महा विद्यालय" सम्बन्धी योजना बड़ी ही सुन्दर योजना है। इससे गुरुदेव की स्मृति के साथ-साथ जनता का भी महान् कल्याण होगा।

इसी प्रकार—महाराज श्री के पुनीत चरणो में आगरा श्री संघ ने और भी अनेक प्रकार की शुद्ध श्रद्धाञ्जलियाँ समर्पण

की हैं। उनमें से केवल दिग्दर्शन मात्र दो लघु पद्य भी यहाँ पर दिये जाते हैं। ये दोनों पद्य आगरा लोहामंडी के भव्य "जैन भवन" में स्थूलाक्षरों में अंकित हैं।

दोहा

समकित रत्न प्रदान कर, दी मिथ्या को टार।
"रत्नचन्द्र" गुरु देव का, है यहाँ पर उपकार॥ १॥

सवैया

उपकार के हेतु शरीर धरो, गुरु नेम यही सब को सरसायो।
सब मोह जंजाल निवारि के ज्ञान को दान दे विश्व जगायो॥
हम जीवन रंक को 'रत्न' मिल्यो निशि वो, में 'चन्द्र' छटा छवि छायो।
रही समता अग्रपुरी पै सदा तन दान दै अन्त पुनीत बनायो॥२॥

इसी प्रकार गुरु देव का एक बहुत विस्तृत एवं सुन्दर पद्यात्मक जीवन चरित्र पं० श्री मोहनलाल जी लोहामंडी आगरा ने भी तैयार किया हुआ है, जो अभी प्रकाशित नहीं हुआ है। इसका प्रकाशन भी बहुत आवश्यक है। उदार सज्जन उदारता दिखाएँगे तो यह कार्य भी सुसम्पन्न हो सकता है।

इसी प्रकार गुरु देव के चरणों में एक बहुत सुन्दर श्रद्धाञ्जली कविरत्न उपाध्याय प० श्री अमरचन्द्रजी महाराज ने सुन्दर-सुन्दर छन्दों में निर्माण करके समर्पण की है। जो "वीर पुस्तकालय लोहामंडी आगरा" की ओर से प्रकाशित भी हो चुकी है। पाठक उसको इसी पते से मँगा कर देखे पुस्तक बड़ी सुन्दर एवं भाव पूर्ण शब्दों में है। अधिक क्या गागर में सागर भरा हुआ है। आप जानते ही हैं उपाध्याय श्रीजी की रचनाएँ कितनी सुन्दर शिक्षा प्रद होती हैं फिर उसमें भी परम पूज्य गुरुदेव श्री रत्नचन्द्रजी महाराज के गुणों की गुण माला का कीर्तन कितना सुन्दर होगा आप स्वयं सोच सकते हैं और पुस्तक को मँगा कर प्रत्यक्ष रसास्वादन कर सकते हैं।

अस्तु, यहाँ के श्रावक श्राविका संघ ने गुरुदेव श्रीरत्नचन्द्रजी महाराज की सत्य शिक्षाओ का अच्छा लाभ उठाया है और आगे भी उठा रहे हैं। यही गुरुदेवकी सच्ची स्मृति है।

(७४) पूज्य गुरुदेव श्री कंवरसेनजी महाराज—श्री कंवर-सेन जी महाराज लोहारा सराय उपनाम अमीनगर जिला मेरठ के एक धनिक अग्रवाल जैन घराने के सुयोग्य सुपुत्र थे आपके परिवार की उपजाति 'पठाणा' नाम से पुकारी जाती थी। उनके बीस पच्चीस घर अब तक वहाँ मौजूद हैं आपको शिशुकाल से ही सन्तो का सत्संग प्राप्त होने से जैन धर्म मे सच्ची प्रीति हो गई थी। इसलिए आप जैन शास्त्रो का स्वाध्याय करते रहे। ज्यो-ज्यो अधिक स्वाध्याय किया, उनका धर्म प्रेम भी बढ़ता गया और धीरे-धीरे उनके हृदय में संसार की असारता की भावना जड़ पकड़ने लगी। और उनका हृदय वैराग्य की तरल तरङ्गो से तरङ्गित होने लगा। उन्हे भान हुआ कि सासारिक सुख तो अज्ञानियो को प्रिय लगते है किन्तु ज्ञानियों के लिये तो वह विषयुक्त अन्न के समान हैं। शास्त्रों में उन्होंने पढ़ा कि देह-धर्म के साधन अर्थात् खान-पान भोग-विलास तो जीव प्रत्येक जन्म में अनादि काल से ही करते आए हैं। ऐसे सुखो का ज्ञान तो पशुओं तक को भी प्राप्त है परन्तु ज्ञान, वैराग्य, संयमादि आत्मधर्म के साधन तो मनुष्यदेह की प्राप्ति पर ही किये जा सकते हैं। वास्तविक सुख की उपलब्धि केवल धर्म कार्य से ही हो सकती है और अन्य सांसारिक सुख तो नश्वर हैं।

ऐसे विचार शास्त्रो में पढ़ कर उनके हृदय में वैराग्य भावना अतीव तीव्र हो गई और उन्होंने अपने मन में संसार त्याग का दृढ निश्चय कर लिया। और आपने पूज्य गुरुदेव श्री

रत्नचन्द्रजी महाराज से दीक्षा लेकर मुनिवृत्ति धारण की और बड़ी कठोरता से संयम-धर्म का पालन किया। एकदा आप विचरते हुए हमारे चरित्र नायक श्री ऋषिराजजी म० के देश में पधारे और वहाँ उन्होंने अपने मनोहर व्याख्यान जनता के कल्याणार्थ दिये। उनसे प्रभावित होकर हमारे चरित्रनायकजी उनके चरणों में विद्याध्ययन के लिए उपस्थित हुए। यह स० १६२४ का वर्णन है। उस समय श्री कंवरसेनजी महाराज ने हमारे चरित्र नायकजी को जैन शास्त्रों का अध्ययन कराया और साथ ही महासती श्री पार्वतीजी एवं महासती श्री जियोजी म० को भी शास्त्र पढ़ाये थे। जिनका पवित्र नाम जैन जगत में बड़ा विख्यात है, ये दोनों महासती हमारे चरित्र नायक जी की सगी चचेरी बहिनें थी। अतः श्री कंवरसेनजी महाराज के द्वारा इन तीनों को विद्याध्ययन कराने के फल स्वरूप ही उनके मन की वैराग्य भावना का अंकुर तीव्र रूप से फूट निकला था। और फिर धर्म और भक्ति के पवित्र जल से वह महान् उन्नत हो गया था।

जैसे कि ऊपर लिखा जा चुका है कि श्री कंवरसेनजी म० बड़े ही संयमी महात्मा थे। शास्त्र ज्ञान के तो आप भण्डार ही थे। अज्ञान के अंधेरे को बोधी ज्ञान से दूर करके सत्पथ दिखाकर सम्यकत्व की ज्योति जगा देते थे। कोकर, करीर सरीखे मिथ्यापन को सत्यज्ञान रूपी अग्नि से भस्म करते थे। ज्ञानामृत से सब संशयों का नाश करते थे। अपने वचनामृत द्वारा अपने भक्तों के हृदय में दया के पुष्पतरु बोते थे। वह स्वयं दयाशील, सन्तोष के प्यारे थे, महाधीरधारी, क्षमावन्त और सब जीव-जन्तु के रक्षक होने के कारण अपने शील सरोवर में भक्तों के मोह-मल को धो डालते थे और काम, क्रोध, मद, मत्सर, छल

की कालिमा को दूर करते थे। उनका आचरण अतीव उच्च था। राग द्वेष को छोड़ कर योग में रंगे हुए सच्चे योगी थे। समस्त भोगो को लात मार कर त्यागमूर्ति और वैराग्य सुधासर थे, बड़े तेजस्वी, विद्या के पारगामी, और वीर प्रभु के अटल पुजारी थे। उनके जीवन में कोई ऐसा अवसर नहीं आया जब उन्होने अपनी साधुवृत्ति के नियमो का पालन करने में किंचिन्मात्र भी ढील दिखाई हो।

अस्तु इन्हीं के पवित्र कर कमलों से हमारे चरित्र नायक श्री ऋषिराज जी म० ने मुनि दीक्षा धारण की थी।

शिष्य परम्परा

इससे पूर्व गुरु परम्परा नामावली में श्री महावीर भगवान् से आरम्भ करके हमारे चरित्र नायक श्री ऋषिराजजी महाराज और उनके शिष्य प्रशिष्यों तक की नामावली दी गई है। वैसे तो श्री ऋषिराजजी महाराज के बहुत से शिष्य थे, किन्तु उनमें दो प्रधान थे। अर्थात्-पं० श्री प्यारेलालजी महाराज तथा गणी श्री श्यामलालजी महाराज। इन दोनों गुरु बांधवों ने अपने पूज्य गुरुदेव को तथा गुरुवंश के नाम को अपने पवित्र जीवन तथा शुद्धाचरण से उज्ज्वल किया है। इनकी आगे की शिष्य परम्परा भी भव्य जीवों का हर प्रकार से कल्याण करने के लिए तत्पर हो रही है। इसलिए उनके सम्बन्ध में भी दो चार शब्द लिखना अनुचित न होगा।

पाठकों को यह पढ़कर आश्चर्य होगा कि गणी श्री श्याम-लालजी महाराज अपने पूज्य गुरुदेव के पुनीत चरणों मे सं० १९५६ के फाल्गुण मास में केवल दस ग्यारह वर्ष की सुकुमार आयु में ही आ पहुँचे थे। गुरुदेव ने बालक श्री श्याम-लालजी की सरल बुद्धि और स्वच्छ भावनाओं को देखकर उन्हें आत्म-कल्याण के पथ पर आरूढ़ करने का निश्चय कर लिया। उसी समय से गुरुवर्य ने उन्हें विद्याध्ययन कराना प्रारम्भ कर दिया। और यह बालक नित्य-प्रति अपने गुरु महाराज तथा अन्य मुनिराजों से संयम मार्ग के सूक्ष्म तत्त्वों को भी सुनने लगा। पूर्वभवों के शुभ कर्मों के फलस्वरूप हृदय पटल पहिले ही पर्याप्त अंश में शुद्ध और स्वच्छ था किन्तु सन्तों के विमल प्रवचनों को श्रवण करके उसमें और भी

निर्मलता आ गई। बालक श्री श्यामलालजी प्राय इस प्रकार के भजन सुना करते थे और खुद गाया भी करते थे।

जगती तल पर जीव,
अनेकों आते जाते रहते हैं।
और भाग्य चक्कर के बल से,
परवस दुःख सुख सारे सहते हैं॥ १॥
कठिन कुकर्मी कलुषित करणी,
करके पाप कमाते हैं।
पुण्यवन्त शुचि सन्त सत्य पथ,
अपना लक्ष्य बनाते हैं॥ २॥
धन सम्पत्ति सन्तान मान,
अभिमान सरासर झूठे हैं।
इनके छल से छले गए,
वह जीव भाग्य के फूटे हैं॥ ३॥
सुख वैभव हैं कै दिन के,
फिर कितना जीना है जग मे।
काल चक्र फिर रहा शीस पर,
भय है इसका पग पग में॥ ४॥
तत्त्व गूढ़ है मूढ़ न जाने,
इस माया के छल बल को।
दुष्कर्मों मे बिता रहे हैं,
मूल्यवान जीवन पल को॥ ५॥
धन्य धन्य वह जीव जिन्होंने,
सत्य तत्त्व को जाना है।
जग माया का जाल तोड़ कर,
त्याग भाव उर ठाना है॥ ६॥

इस प्रकार के सद्उपदेशों से श्री श्यामलालजी महाराज

के हृदय में संयम लेने का दृढ़ निश्चय बन गया। जब उन्होंने अपनी भावना अपने गुरुदेव के सामने प्रकट की तो उन्होंने उसे सराहा, किन्तु साथ ही जैन साधु वृत्ति की जो जो कठिनाइयाँ हैं, उनको भी निरूपण किया और कहा कि-भली प्रकार अपने हृदय मे विचार करलो कि क्या तुम इन परिषहों और दुःखों को सहन कर सकोगे? यदि तुम्हें कुछ भी भय प्रतीत होता हो तो इस कठिन मार्ग पर पग न रखो और साथ ही कहा कि-इस मार्ग के गामी होकर फिर पीछे पैर धरोगे तो वह अनुचित और अयोग्य बात होगी। इसके उत्तर मे श्री श्यामलालजी महाराज ने बड़ी ही दृढ़ता से कहा कि-मैंने भली भाँति इस पर विचार करके अपना निश्चय बनाया है। मैं इस मार्ग को ग्रहण करके बडी स्थिरता और दृढ़ता से इस पर चलता हुआ अडिग रहूँगा। हाँ मुझ पर गुरुदेव की कृपा की आवश्यकता है। गुरुदेव बालक श्री श्यामलालजी के इस धैर्य और धर्म प्रेम को देख कर बडे प्रसन्न हुए। और जब श्री श्यामलालजी को उनके चरणों में रहते हुए सात वर्ष हो गये तो एकदा जब कि-वह ढिंढाली ग्राम में विराजमान थे तो संवत् १९६३ के ज्येष्ठ मास मे ढिंढाली के श्रावक वर्ग और श्री श्यामलालजी महाराज, इन दोनों की आग्रह पूर्ण विनती पर उन्हें दीक्षा देदी। दीक्षा लेने के पश्चात भी श्री श्यामलाल महाराज जैन ग्रन्थों का अध्ययन करते रहे। एवं अपने पूज्य गुरुदेव की सेवा भक्ति भी दत्तचित्त से करते रहे। और उसके फलस्वरूप गुरुदेव उन से और भी अधिक संतुष्ट रहकर धर्म के समस्त तत्त्व उन्हें समझाते थे। श्री श्यामलालजी महाराज अपने गुरुदेव के साथ दीक्षा के पश्चात् अभी केवल एक डेढ़ साल ही रहे थे कि-झिंझाणा नगर मे गुरुदेव इस धरातल को त्याग कर स्वर्गारोहण कर गए। इससे पूर्व गुरुदेव की

पावन छत्र छाया में ही आपके धर्म ध्यान, तपस्यादि पुण्यकार्य सम्पादित होते थे। किंतु अब गुरुदेव के स्वर्गवास से उन पर एक भार सा आ पड़ा। क्योंकि अभी आपकी आयु केवल १७-१८ वर्ष की ही थी। गुरुदेव के स्वर्गारोहण का प्रभाव होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि आप आठ नौ वर्ष से गुरुदेव के साथ ही विचरण कर रहे थे। और उनसे आपने प्रत्येक प्रकार की आत्मिक उन्नति की स्फूर्ति प्राप्त की थी। और फिर निरन्तर के पावन सान्निध्य से प्रेम-भाव का होना भी स्वाभाविक ही था। परन्तु इस वियोग जन्य व्यथा का प्रभाव श्री श्यामलाल जी महाराज के मन पर स्वल्पकाल के लिए ही हुआ था। बहुत शीघ्र ही उन्होंने उसको अपने कर्तव्य द्वारा शान्त करके गुरुदेव के चरण चिह्नों पर चल कर चतुर्दिक् धर्मोद्योत करने की ओर ही अपना ध्यान दिया।

नि सन्देह जैन साधु की रहन वृत्ति अतीव दुष्कर है और श्री श्याम लाल जी महाराज जानते थे कि इस मर्यादा पालन में घोरातिघोरकष्ट भी है। और साथ ही गुरुदेव की छत्रछाया भी उनके सिर से उठ गई थी। तथापि उन्होंने अपने कर्त्तव्य को बड़ी दृढता और धीरता से निभाया।

जैसा कि-पूर्व लिखा जा चुका है कि-जैन साधु को अपने संयम मार्ग मे अतीव दु सह कष्ट सहन करने पड़ते हैं। किन्तु यह एक गौरव की बात है कि जैन साधु आज भी अपने महाव्रतों में पूर्व की भाँति अति दृढ़ है। त्याग तपस्या और कष्ट सहिष्णुता के तो जैन साधु आज भी मूर्ति मान उदाहरण हैं। उनका यही त्याग आज भी उन्हे करोड़ों जैनेतरों का श्रद्धा भाजन बना रहा है। हम चाहें तो कह सकते है कि-त्याग, तपस्या, कष्ट सहिष्णुता, अहिंसा, पर दु ख कातरता आदि दैवी गुणों मे ससार का कोई व्यक्ति, चाहे वह गृहस्थ हो या

-कापाय वेश धारी साधु-इन जैन साधुओं की तुलना मे नहीं ठहर सकता। जैन साधुओं के इसी त्याग भाव ने उत्थान और पतन के प्रवल झोकों मे भी जैन समाज को जीवित तथा जागृत रखा है। जिस दिन समाज में इन दैवी गुणों का ह्रास हो जाएगा, उस दिन की कल्पना मात्र ही हृदय को कम्पित एवं त्रस्तकर देती है। जैन साधुओं की इस त्याग भावना के अक्षुण्य रहने से ही संसार में पाप ताप से तपित मानव समुदाय शीतल छाया का सुखद अनुभव कर सकता है।

श्री श्याम लाल जी महाराज भी उन्हीं दृढ़ संयमी जैन मुनियों में से एक मुनि रत्न हैं। गुरुदेव के स्वर्ग सिधारने के पश्चात् पं० श्री प्यारे लाल जी महाराज और आप दोनों गुरु भ्राताओं ने मानव समाज के हित के लिए भ्रमण करके अपना जीवन अर्पण कर देने का निश्चय किया। अतः सं० १९६३ से लेकर आज तक गणी श्री श्याम लाल जी महाराज शास्त्राऽज्ञानुसार पर्यटन करते हुए भगवान् महावीर का पावन सुखद सन्देश जन साधारण को सुनाते आ रहे हैं। त्याग, तपस्या, दया, दान, निर्भयता, ब्रह्मचर्य, शीलसंतोष, सरलता एवं नम्रता आदि धार्मिक विषयों पर आप अपने सुन्दर प्रवचनों से जनता को सन्मार्ग दिखाते आरहे हैं। इनके इस पवित्र सन्देश श्रवण मे वाल वृद्ध, नरनारी, धनी निर्धन, ऊँच नीच, आदि का कोई निन्दनीय भेद भाव नहीं होता। सभी जन आपका पवित्र उपदेशामृत पान करने के लिए बड़ी श्रद्धा भक्ति से एकत्रित होते हैं। ग्रामीणों को गणी श्री श्यामलाल जी महाराज की शान्त-निर्विकार मुख मुद्रा का दर्शन करके परम प्रसन्नता होती है। आप विना किसी भेद भाव के सर्वत्र ही भगवान् वीतराग देव का अमर सन्देश जनता को सुनाते रहते हैं। इसी निमित्त वे कई कठोर-दुर्गम यात्राएँ भी कर

चुके हैं। जो महान् आत्मा संसार के घोरातिघोर बन्धन और विघ्न बाधाओं के आने पर भी अपने कर्तव्य पथ से विचलित नहीं होते-वे सदा ही अपनी आध्यात्मिक क्रियाओं को पूर्ण-तया नियमपूर्वक पालन करते हैं। आपके पवित्र उपदेश, जीवन-चरित्र, सत्संग, त्याग, तपस्या, एवं भजन भाव-भावुक जनता द्वारा बड़ी श्रद्धा भक्ति से सुसम्पन्न हो रहे हैं। जहाँ जहाँ पर भी आप पधारते हैं—वहाँ वहाँ पर ही जैन समाज में त्याग तपस्या, धर्म ध्यान, व्रत पोषध श्री नमोकार मंत्र के अखण्ड जाप, व्रत पचक्खाण, दान पुण्य, आदि बहुत अच्छी संख्या में होते हैं। वहाँ के भक्त लोगों को ऐसा प्रतीत होता है कि—मानो वे धर्म ध्यान, त्याग तपस्या, और दान पुण्य की त्रिवेणी में अहर्निश अवगाहन करते हुए अपना आत्मिक कल्मष धोकर शान्तिमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

इस प्रकार गणी श्री श्यामलालजी महाराज ने अपने गुरुदेव के नाम को हर प्रकार से उज्ज्वल किया है। आपको जैन श्री संघ की ओर से आपके सद्गुणों और चारित्र शीलता तथा जन-सेवा के फलस्वरूप श्री श्री १००८ आचार्य श्री पृथ्वीचन्द्र जी महाराज के आचार्य पद महोत्सव के शुभ अवसर पर ही नारनोल नगर में सं० १९९३ के माघ शुक्ला त्रयोदशी मंगलवार के दिन "गणावच्छेदक" की पदवी भी प्राप्त हो चुकी है। इस शुभ अवसर पर मरुधर प्रान्तीय शान्तिमूर्ति जैन शास्त्र विशारद महान् धर्मज्ञ आचार्य श्री श्री १००८ श्री खूबचन्दजी महाराज, पं० श्री सुखलालजी महाराज, पं० श्री केशरीमलजी महाराज, श्री तपस्वी छब्बालालजी महाराज, श्री हीरालालजी महाराज आदि ठा० नो तथा पंजाब प्रान्तीय जैन समाज भूषण व्याख्यान वाचस्पति पं० श्री मदनलालजी महाराज, योगनिष्ठ आत्मार्थी श्री रामजीलालजी महाराज,

भण्डारी श्री बलवन्तसिंहजी महाराज ठा० ५ भी विराजमान थे। आपका और इन उपरोक्त समस्त मुनिराजों का आपस में घनिष्ट प्रेम है। इस समय आपके तीन दीक्षित साधु शिष्य हैं। जिनके नाम पहिले लिखे जा चुके है और तीन प्रशिष्य है, उनके नाम भी पिछले प्रकरण में आ चुके हैं। गृहस्थ शिष्य तो बहुत बडी संख्या मे है। जिन्होंने आपके दर्शन किये है, वे आपकी दिव्य तेजोमय, शान्तमयी, सरलता युक्त मूर्ति से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। उनके मुख से ब्रह्मचर्य तथा महान तप का तेज टपकता है। और उनके दर्शन मात्र से एक सुख सा प्रतीत होता है। आपने आज तक आठ अठाइयों के अतिरिक्त एक नौ दिन का थोक एवं हजारों व्रत बेले तेले चौले पचौले तक की तपस्याएं की है, और आगे भी करते रहते है।

गणी श्री श्यामलालजी महाराज के चतुर्मास

यह पहिले लिखा जा चुका है कि पूज्य गुरुदेव श्री ऋषिराजजी महाराज के परम प्रिय शिष्य गणी श्री श्यामलालजी महाराज को गुरुवर्य के कर कमलों से "ढिंढाली" जिला मुजफ्फरनगर में सं० १९६३ के ज्येष्ठ मास में दीक्षा प्राप्त हुई थी। अत प्रथम के दो चतुर्मास आपने अपने गुरुदेव के साथ रह कर ही किये थे। तत्पश्चात् गणी श्री श्यामलालजी महाराज ने निम्नोक्त क्षेत्रों मे विचरण करके एवं चतुर्मास करते हुए धर्म प्रचार किया और भव्य जीवों की धर्म पिपासा को शान्त किया। अस्तु, आगे उन्हीं का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है—

प्रथम चतुर्मास सं० १९६३ का बड़सत जिला करनाल मे श्री गुरुदेव के चरणों मे हो गुरुभ्राता पण्डित रत्न श्री प्यारेलालजी महाराज के साथ ठा० ३ से किया था, यहाँ पर आपने

शास्त्राभ्यास किया एवं गुरुदेव की सेवा शुश्रूषा बहुत की और श्रावकों मे धर्म प्रचार अत्यधिक हुआ।

यहाँ पर ला० जित्तामलजी, गिरनारीलालजी, उमरावसिंहजी, हुकमचन्दजी, ला० कशमीरीलालजी, जमीयतरायजी, कंवर लैनजी, ला० सुगनचन्दजी, चेतनलालजी, ला० गंगारामजी, बलदेवदासजी, ला० उदमीरामजी, मिट्ठनलालजी, ला० सुगनचन्दजी, तेलूरामजी, पटवारी अजुध्याप्रसादजी, गिरनारीलालजी, सुमतप्रसादजी ला० उलफतरायजी, सीतारामजी, ला० चमनलालजी, अमनसिंह जी, रूपचन्दजी, ला० बनारसीदासजी, निरंजनलालजी, बलदेवदासजी, ला० उगरसेनजी, राजेलालजी, ला० दीपचन्दजी, ला० मूलचन्दजी, ला० रहतुमलजी, ला० मन्नुलालजी, ला० बनारसीदासजी, पं० नाथूरामजी शर्मा, ला० राजेलालजी हकीम, ला० मुन्नीलालजी, ला० जुगमंदिरदासजी ला० दयारामजी आदि श्रावक आपके मुखिया श्रावक थे। इन सभी ने आपके और आपके गुरुदेव के सत्शिक्षा रूप वचनामृतों से विशेष लाभ उठाया है। इनमे से कितने ही सज्जन जो मौजूद हैं अब भी आपके प्रति विशेष श्रद्धाभाव रखते है।

द्वितीय चतुर्मास–सं० १९६४ का झिंझाणा जि० मुजफ्फर नगर मे श्री गुरुदेव के चरणों मे ही पं० श्री प्यारेलालजी महाराज के साथ ठा० ३ से किया। इस चतुर्मास के पश्चात् गुरुदेव का यहाँ पर ही पौष कृष्णा द्वितीया शनिश्चर वार के दिन सायंकाल के ४ बजे स्वर्गवास हो गया। इस समय यहाँ पर महासती श्री दुर्गाजी भी अपनी सतियों के साथ विराजमान थीं। आप सबने गुरुदेव की आखिरी समय तक पूर्ण सेवा सुश्रूषा की।

तृतीय चतुर्मास–सं० १९६५ का ग्लम जिला मुजफ्फर-

नगर में अपने गुरु भ्राता पं० श्री प्यारेलालजी महाराज आदि के साथ ठा० ४ से किया। यहाँ पर धर्म ध्यान अच्छा हुआ।

चतुर्थ चतुर्मास–सं० १९६६ का "मितलावली" जिला मुजफ्फर नगर में पं० श्री प्यारेलाल जी महाराज के साथ ठा० ४ से किया। पं० श्री भरता जी महाराज के शिष्य श्री जसीरामजी महाराज एवं श्री प्यारेलालजी महाराज के शिष्य श्री रामलालजी म०भी आपके साथ ही थे। यहाँ पर ला० प्रतापसिंहजी, सुनहरामलजी, मूलचन्दजी, बनवारीलालजी रामजीदासजी आदि श्रावक आपके बड़े प्रेमी एवं श्रद्धालु श्रावक थे। अब इनका सभी परिवार आपके लिए अधिक भक्ति रखता है।

पञ्चम चतुर्मास–स० १९६७ का "करनाल" शहर में आपने ठा० २ से किया। यहाँ पर ही चतुर्मास से पूर्व ज्येष्ठ शुक्ला १४ को पं० श्री प्यारेलालजी महाराज का स्वर्गवास हो चुका था अतः यहाँ पर आपने ठा० २ से ही चतुर्मास किया था। आगे आपने बहुत वर्षों तक ठा० २ से ही चतुर्मास किये हैं। अस्तु

षष्ठम चतुर्मास–सं० १९६८ का "बिनौली" जिला मेरठ में किया। यहाँ के सभी श्रावकों ने आपकी अधिकाधिक सेवाएँ कीं।

सप्तम चतुर्मास–स० १९६९ का "एलम" जिला मुजफ्फरनगर में किया। यह क्षेत्र भी आपका बहुत पुराना है और सभी गाँव आपसे विशेष अनुराग रखता है।

अष्टम चतुर्मास–सं० १९७० का "बड़सत" जिला करनाल में हुआ। यह भी आपका एक परम्परागत खास क्षेत्र है।

नवम चतुर्मास–सं० १९७१ का "छपरौली" जिला- मेरठ मे किया। यहाँ पर भी धर्मध्यान अच्छा हुआ।

दशम चतुर्मास–सं० १९७२ का "बड़ौत" जिला मेरठ में किया, यहाँ पर आपके उपदेश से एक जैन सभा की स्थापना की गई थी।

एकादशम चतुर्मास—सं १९७३ का पुन· "विनौली" जिला मेरठ में किया। इस चतुर्मास मे आप फोडे के कारण अधिकतर अस्वस्थ रहे, फिर भी धर्मध्यान अच्छा हुआ।

द्वादशम चतुर्मास—स० १९७४ का "बड़ौत" जिला मेरठ मे तपस्वी श्री पूर्णचन्द्रजी महाराज की सेवा में किया गया।

त्रयोदशम चतुर्मास—सं० १९७५ का "दोघट" जिला मेरठ मे किया। यहाँ पर धर्मध्यान अच्छा हुआ। यह क्षेत्र भी बहुत बडा है प्राचीन है और आपसे खास प्रेम रखता है।

चतुर्दशम चतुर्मास-सं० १९७६ का "बड़ौत" जिला मेरठ मे तपस्वी श्री पूर्णचन्द्र जी महाराज की सेवा में किया। इस वर्ष श्री तपस्वीजी महाराज अस्वस्थ थे अत· आपको उनकी सेवा का लाभ मिला।

पञ्चदशम चतुर्मास-सं० १९७७ का "श्यामली" जिला मुजफ्फरनगर मे श्री सुखानन्दजी महाराज के साथ ठा० ४ से किया। यहाँ पर ही आपके ज्येष्ठ शिष्य पं० श्री प्रेमचन्दजी महाराज ने आपके द्वारा वैराग्य प्राप्त किया। अत यहाँ से ही इनको विद्याध्ययन प्रारम्भ कराया गया।

षट्दशम चतुर्मास-सं० १९७८ का "करनाल" शहर मे किया। यहाँ पर ला० किशनचन्दजी लक्ष्मीचन्दजी, ला० रामप्रसादजी निरंजनलालजी, ला० चमनलालजो आदि सभी श्रावकों ने आपकी अत्यधिक सेवा की।

सप्तदशम चतुर्मास-सं० १९७९ का "एलम" जिला मुजफ्फरनगर में किया। यहाँ पर धर्मध्यान अच्छा हुआ। यहाँ पर ला० भिक्खनलालजी, मिट्ठनलालजी, प्रभुदयालजी, ला० धर्मदासजी, पटवारी अन्नालालजी, पटवारी श्रीचन्दजी, ला० झंडूमलजी, ला० प्यारेलालजी, ला० न्यादरमल जो, ला० कपूरचन्दजी, ला० गोविन्दरामजी, ला० भरतसिंहजी, ला०

बख्तावरसिंहजी आदि श्रावकों को आप पर विशेष श्रद्धा थी, ये भी आपके मुखिया श्रावकों में से थे। इनका परिवार भी आपके प्रति उतनी ही श्रद्धा भक्ति रखता है और धर्म ध्यान अच्छा करता रहता है।

अष्टादशम चतुर्मास-स० १६८० का "कुताना" जिला मेरठ में किया। यहाँ पर भी धर्म ध्यान अच्छा हुआ।

अस्तु, इस चतुर्मास के पश्चात् आप अनेक क्षेत्रों मे धर्म प्रचार करते हुए "श्यामली" पधारे। और श्यामली मे ही आपने अपने दूसरे शिष्य श्री श्रीचन्दजी महाराज को सत्य धर्म का प्रतिबोध देकर विद्याभ्यास एवं संयमाराधन के लिए जागृत किया और फाल्गुण शुक्ला पूर्णिमा-होली चतुर्मासी को श्री श्रीचन्दजी को सर्व प्रथम पोपधोपवास कराया गया। अस्तु, यहाँ से ही श्री श्रीचन्द जी महाराज की वैराग्य प्राप्ति का श्री गणेश हो जाता है।

श्री श्रीचन्द्र जी महाराज का नाम माता पिता ने तो 'जनार्दन' रखा था किन्तु गोरधन के दिन जन्म होने से इनको अधिकतया बाल्यकाल मे "गोरधन' नाम से ही सम्बोधित किया करते थे। गुरुदेव ने इनका वैराग्यावस्था का नाम शेरसिंह रखा था और दीक्षा के पश्चात् इनका नाम "श्रीचन्द्र" रखा गया। अस्तु उस वैरागी को अपने साथ रखने के लिए इनके फूफा से आज्ञा लेकर आप अनेक क्षेत्रों मे धर्म प्रचार करते हुए मितलावली जि० मुजफ्फर नगर पधारे। और यहाँ पर ही श्री संघ की तथा वैरागी श्री प्रेमचन्द्र जी की आग्रह पूर्ण प्रार्थना से श्री प्रेमचन्द्रजी को मुनिदीक्षा दी गई। इस शुभ अवसर पर शान्तमुद्रा श्री मोतीराम जी महाराज पंडित रत्न, श्री पृथ्वीचन्द्रजी महाराज, श्री अमरचन्द्रजी महाराज एवं श्री लालचन्द्रजी महाराज. तथा तपस्वी श्री जीतमलजी महाराज

भी पधारे थे और यहाँ के श्री संघ ने दीक्षा उत्सव का प्रबन्ध वडे उत्साह से किया था। यहाँ के समस्त संघ को महाराज श्री से घनिष्ट अनुराग है जिसमें श्रीमान् लाला जगतराम सिंह जी पटवारी, लाला भरतसिंह जी, भगत मुरारीलाल जी, पटवारी मुंशीलालजी, गिरीलालजी, पन्नालाल जी, लाला आसाराम जी, लाला हुक्मचन्दजी आदि और इनका समस्त परिवार तो आपके खास शिष्यों मे से हैं। अस्तु-दीक्षा बड़े ही उत्साह से हुई।

१६ माँ चतुर्मास-सं० १६८१ का परासौली जि० मुजफ्फरनगर मे किया। यह भी आपका ही पुराना क्षेत्र है। यहाँ पर धर्मध्यान भी अच्छा हुआ।

२० माँ चतुर्मास-सं० १६८२ का "श्यामली" जि० मुजफ्फरनगर मे आपने पूज्य श्री मोतीरामजी महाराज के साथ ठा० ५ से किया यहाँ पर आपके साथ दो वैरागी भी थे। अत इस चतुर्मास के पश्चात् अनेक क्षेत्रों में परिभ्रमण करते हुए आप श्री प्रेमचन्द्रजी म० को एवं वैरागी श्री श्रीचन्द्रजी को साथ लेकर वड़सत जि० करनाल में पधारे। यहाँ पर सं० १६८३ के आषाढ़ कृष्णा द्वितीया रविवार के दिन श्री श्रीचन्द्रजी को साधु दीक्षा दी और धर्म की विशेष प्रभावना हुई।

२१ वाँ चतुर्मास-स० १६८३ का "काछुआ" जि० करनाल में ठा० ३ से किया। यहाँ पर ही आपने अपने दोनों शिष्यों को संस्कृतव्याकरण एवं संस्कृत साहित्य का अध्ययन शुरू कराया। यहाँ पर श्री श्रीचन्द्रजी महाराज ने नौ दिन का उपवास भी किया। और भी धर्म ध्यान अच्छा हुआ।

२२ वाँ चतुर्मास-सं० १६८४ का "संगरूर" (जींद स्टेट) में किया। यहाँ पर भी आपने दोनों शिष्यों को संस्कृत का अध्ययन कराया और धर्म ध्यान अच्छा हुआ। यहाँ पर ला०

तुलसीरामजी, ला० खूबचन्दजी, ला० चिरंजीलालजी एवं ला० ताराचन्दजी आदि श्रावकों ने आपकी हर प्रकार से सेवाएँ की।

२३ वॉ चतुर्मास–सं० १९८५ का दादरी मे किया। यहॉ पर भी धर्म ध्यान अच्छा हुआ। ला० अभयसिंहजी को ७० वर्ष की वृद्धावस्था मे भी प्रतिक्रमण सूत्र कंठस्थ कराया।

२४ वॉ चतुर्मास–सं० १९८६ का महेन्द्रगढ़ (पटियाला) स्टेट, में श्रीमान् रा० ब० जैन समाज भूषण सेठ ज्वाला प्रसादजी के आग्रह से पूज्य श्री मोतीरामजी महाराज के साथ ठा० ७ से किया। इस चतुर्मास में आपने एवं श्री श्री चन्दजी महाराज ने आठ-आठ दिन के उपवास किये। और धर्म ध्यान अच्छा हुआ।

२५ वॉ चतुर्मास–सं० १९८७ का हिसार मे पूज्य श्री के साथ ही ठा० ७ से किया। धर्म ध्यान एवं धर्म प्रचार अच्छा हुआ।

२६ वॉ चतुर्मास–सं० १९८८ का पुनः महेन्द्रगढ़ पूज्य श्री के साथ ही ठा० ७ से किया। आपने एवं श्री श्री चन्द्र जी महाराज ने पुनः अठाईतप किये। यहॉ पर धर्म ध्यान अच्छा हुआ। चतुर्मास के पश्चात्–फाल्गुण शुक्ला पञ्चमी–को आपने श्री संघ की सम्मति से श्री शान्तमूर्ति सरल स्वभावी श्री श्री १००८ श्री मोतीराम जी महाराज को पूज्य पदवी प्रदान की। पदोत्सव का प्रवन्ध श्रीमान् सेठ ज्वालाप्रसादजी ने किया था।

२७ वॉ चतुर्मास–सं० १९८९ का "एलम" जिला मुजफ्फर-नगर में किया, यहॉ पर आप ठा० ३ से थे। यहॉ पर ही श्री श्री चन्द्रजी महाराज ने ११ दिन का लम्बा उपवास किया था। और भी धर्म ध्यान अच्छा हुआ।

२८ वॉ चतुर्मास–सं० १९९० का "नारनौल" मे पूज्य श्री के साथ ठा० ७ से किया। यहॉ पर श्री श्री चन्द्रजी महाराज ने १६ दिन का लम्बा उपवास किया। इससे पूर्व चैत्र मास मे अजमेर में एक वृहद्-साधु सम्मेलन भी हो चुका था।

२६ वाँ चतुर्मास–सं० १९९१ का महेन्द्रगढ़ में पूज्य श्री के साथ ही ठा० ७ से किया। इसी समय यहाँ पर पूज्य श्री अमोलक ऋषिजी महाराज ठा०५ का भी चतुर्मास था, अत परस्पर मे प्रेम प्रभाव बहुत अच्छा रहा। इस वर्ष कवि श्री अमरचन्द्रजी महाराज श्री श्रीचन्द्रजी महाराज ठा० २ को उपाध्याय श्रीआत्मारामजी महाराज श्रीमदनलालजी महाराज बड़े आग्रह के साथ दिल्ली ले गए वहाँ गणावच्छेदक श्री छोटेलालजी महाराज की सेवा मे चातुर्मास किया था। परस्पर मे बहुत प्रेम भाव की वृद्धि हुई।

३० वाँ चतुर्मास—सं० १९९२ का 'एलम' मे ठा० ३ से किया। यहाँ श्री श्रीचन्द्रजी महाराज ने १३ दिन का लम्बा उपवास किया। इसी अवसर पर जैन समाज भूषण सेठ ज्वालाप्रसादजी जैन अपने परिवार सहित आपके दर्शनार्थ आए और इसी वर्ष यहाँ पर ही आपने सर्व प्रथम श्री नमोकार मंत्र का अखड जाप प्रारभ कराया। जो अब हजारों क्षेत्रों मे चालू हो गया है। इससे धर्म की बड़ी प्रभावना होती है। यहाँ पर ही आपके तीसरे शिष्य पं० श्री हेमचन्द्रजी को वैराग्य प्राप्त हुआ। अत यहाँ पर धर्म प्रचार बहुत अच्छा हुआ।

३१वाँ चतुर्मास—सं० १९९३ का महेन्द्रगढ़ मे किया। इससे गत वर्ष यहाँ पर ही पूज्य श्री मोतीरामजी महाराज का स्वर्गवास हो चुका था और इससे पूर्व ही सर्दियों मे सेठ ज्वालाप्रसादजी का भी स्वर्गवास हो चुका था अत कई कारणों से इस वर्ष का चतुर्मास आपने महेन्द्रगढ मे ठा० २ से किया। इसके पश्चात् माघ शुक्ला त्रयोदशी मंगलवार को पूज्य श्री खूबचन्द्रजी महाराज ठा० ६ एवं श्री मदनलालजी महाराज ठा० ५ के समक्ष श्री पृथ्वीचन्द्रजी महाराज को आचार्य पद, कवि श्री अमरचन्द्रजी महाराज को उपाध्याय पद और आपको गणावच्छेदक पद, एवं श्री हेमचन्द्रजी तथा श्री जग्गुमलजी

को साधुपद इत्यादि पद बड़े समारोह के साथ दिये गए।

३२ वॉ चतुर्मास-सं० १९९४ का "पाटोदी स्टेट" में किया। यहॉ पर श्री श्रीचन्दजी महाराज ने दस दिन का लम्बा उपवास किया और आपकी ही प्रेरणा से यहॉ पर सम्वत्सरीपर्व की आम छुट्टी हमेशा के लिए रियासत की ओर से स्वीकार हुई और धर्म ध्यान अच्छा हुआ।

यहॉ पर श्री नमोकार मंत्र का अखंड जाप भी हुआ। यहाँ की जैन अजैन, सभी जनताने आपका अच्छा स्वागत किया और कितने ही उत्सव भी मनाए गए। जिनमें वहुत सी कविताएँ आपकी मंगल स्तुति मे श्रावकों ने बड़ी श्रद्धा भक्ति के साथ अपनी मधुर आवाज से सुनाई। उनमे से दो कविताएँ यहॉ पर भी दी जाती है। अस्तु, देखिये—

गुरुदेव से प्रार्थना

अरज है गुरुजी वारम्वारा,
दुख दूर करो स्वामी हमारा॥ ध्रुव॥
पञ्च महाव्रत के हो धारी,
सर्व इन्द्रियॉ तुमने मारी।
अहिंसा का लिया सहारा,
दु:ख दूर करो स्वामी हमारा॥ १॥
खूब दया पर चार हो करते,
औरो को तारो खुद भी तरते।
तुम ही हो एक सहारा,
दु:ख दूर करो स्वामी हमारा॥ २॥
श्यामलाल गुरु नाम है जिनका,
शिष्य श्रीचन्द्र जी है तिनका।
हेम भी है अधिक पियारा,
दु:ख दूर करो स्वामी हमारा॥ ३॥

पूज्य जिन्हां के श्रीपृथ्वीचन्द्रजी राया,
शिष्य जिन्हों का अमर कहाया।
जग जानत है सारा,
दुख दूर करो स्वामी हमारा ॥ ४ ॥
'रूप' स्वामी ! चरणों का चेरा,
गुरु श्री सुन्दरलाल है मेरा।
इन्हीं का एक सहारा,
दुख दूर करो स्वामी हमारा ॥ ५ ॥
(श्री संघ सेवक—रूपचन्द्र जैन 'रूप' पाटोदी स्टेट)

गुरु गुण महिमा

लोगो आई है मौसम वहार,
चोमासा स्वामी जी ने किया ॥टेक॥
गुरुजी गुणों की है खान,
अहसान हम पर किये महान्।
हम सब वारें दिल और जान,
धरम का शरणा दिया ॥ १ ॥
शिष्य है जिनके श्रीचन्द राया,
भाइयों को सत उपदेश सुनाया।
भूले हुए जीवों को राह वताया,
खूब ही अहसान किया ॥ २ ॥
सम्वत्सरी[1] की तातील कराई,
जैन की अजमत वहुत वढ़ाई।

१—सम्वत्सरी पर्व मनाने के लिए प्रत्येक भाई को सरकार की ओर से आम छुट्टी के रूप में आज्ञा प्रदान कराई। जिससे प्रत्येक भाई निश्चिन्त होकर स्वतन्त्रता पूर्वक सम्वत्सरी पर्व की आराधना करके आत्म कल्याण कर सकें।

देश देशों से मिली बधाई,
खूब ही कारज किया ॥ ३ ॥
हेम भी शरण हैं बड़ भागी,
जिन्होंने संसारी ममता त्यागी।
बन कर जैन धर्म वैरागी,
गुरुओं का शरणा लिया ॥ ४ ॥
पूज्य इनके श्री पृथ्वी चन्द राया,
शिष्य अमर जो अमर कहाया।
जैन संसार में नाम बढ़ाया,
नाम गुरुजी रोशन किया ॥ ५ ॥
सम्वत् उन्नीसो चोराणु बड़भागी,
पाटोदी वालों की किस्मत जागी।
पधारे श्री श्यामलाल गुरु त्यागी,
हुलसाया सबका जिया ॥ ६ ॥
गुरुओं से हम सबकी अरदास,
फेर भी पूरण करना आश।
मंगशिर बदी दोज दिन खास,
चौमासा पूरण किया ॥ ७ ॥
अल विदा पर यह गई सुनाई,
नाकिस अकल में जो कुछ आई।
मुझे नहीं इसमे कुछ चतुराई,
'रूप' का पुलकत हिया ॥ ८ ॥

इसी प्रकार श्री गणीजी महाराज की स्तुति में प्रत्येक चतुर्मास में एक से एक सुन्दर भाव पूर्ण कविताएँ पढ़ी गईं—उन सबको यहाँ पर देना कठिन है। अस्तु—इतने मात्र से ही महाराज श्री के सुन्दर स्वभाव एवं पुण्य प्रभाव का पूर्ण परिचय मिलता है।

तेतीसवाँ चतुर्मास-सं० १६६५ का आपने अपने प्राचीन एवं खास क्षेत्र आगरा की लोहामण्डी में किया। यहाँ पर पूज्य श्री पृथ्वीचन्द्रजी महाराज, उपाध्याय श्री अमरचन्द्रजी महाराज और आप कुल ठा० ७ से पधारे। वहाँ पर सभी श्रावकों के साथ शतावधानी पं० श्री रतनचन्द्रजी महाराज एवं श्री चौथमलजी महाराज ने भी आपका अच्छा स्वागत किया और बडे प्रेम से एक स्थान पर ही सबके व्याख्यान हुए। बड़ा ही आनन्द मंगल रहा। बाद में यहाँ परही श्री शतावधानीजी म० सहित ठा० १२ से आपका चतुर्मास हुआ। यहाँ पर आपने आठ दिन का और श्री श्रीचन्द्रजी महाराज ने नौ दिन का लम्बा उपवास किया। यहाँ पर मरुधर प्रान्तीय महासती श्री सौभाग्यकुँवर जी महाराज ठा० ३ का भी चतुर्मास था। इनमें महासती श्री हेमकुँवर जी महाराज ने ७५ दिन का लम्बा उपवास केवल गर्म जल के ही आधार से किया था। धर्म ध्यान एवं धर्म प्रभावना बहुत अच्छी हुई। यह क्षेत्र भी आपका बहुत प्राचीन पुण्यवान क्षेत्र है।

चौंतीसवाँ चतुर्मास-सं० १६६६ का "जगरावाँ" जिला लुधियाणा (पंजाब) में किया। यहाँ पर आप पूज्य श्री के साथ ठा० ६ से थे। इस वर्ष श्री अमरचन्द्रजी महाराज, श्री श्रीचन्द्रजी महाराज का रायकोट जो जगरावा से केवल १४ मील पर ही है। श्री मदनलाल महाराज के साथ ठा० १२ से हुआ। दोनों क्षेत्रों में धर्मप्रचार अच्छा हुआ।

पैंतीसवाँ चतुर्मास-सं० १६६७ का "अम्बाला शहर" पूज्य श्री के साथ तथा उपाध्याय श्री आत्मारामजी महाराज के शिष्य पं० श्री हेमचन्द्रजी महाराज ठा० ३ के साथ कुल ठा० ११ से किया। धर्मध्यान बहुत अच्छा हुआ। यहाँ पर ही आपके प्रशिष्य श्री कस्तूरचन्द्र जी को वैराग्य प्राप्त हुआ।

इसके वाद आप सडोरा, कसौली धर्मपुरा, डगसई आदि पहाड़ी प्रदेश में भ्रमण करते हुए फरीदकोट पहुँचे। अस्तु-यहाँ पर १६६८ की वीर जयंति वड़ी धूमधाम से मनाई गई।

छत्तीसवाँ चतुर्मास–सं० १६६८ का "फरीदकोट" में पूज्य श्री के साथ ठा० ११ से किया। यहाँ पर तपस्वी श्री पन्नालालजी महाराज कवि श्री चन्दनलालजी महाराज भी साथ ही थे। यहाँ पर आपने अठाई तप किया धर्म प्रचार वहुत अच्छा हुआ।

यहाँ पर श्री चन्दनलालजी महाराज ने भी आपकी सेवा में एक भजन निर्माण करके समर्पण किया। इससे आपकी विशेषताओं का परिचय भी मिलता है। अस्तु देखिये भजन कितना सुन्दर है—

गणी श्री श्यामलालजी महाराज

गणी श्री श्यामलालजी महाराज, तुम्हारी महिमा भारी है।
खूब किये उपकार आपने, खलकत काफी तारी है ॥१॥
अड़तालीस का है जन्म तुम्हारा, वचपन वीच आराम गुजारा।
आया साल त्रेसठ प्यारा, दीक्षा आपने धारी है ॥२॥
श्री लेखराजजी गुरु तुम्हारे, पण्डितराज वड़े ही भारे।
लखाँ जीव जिन्होंने तारे, दुनियाँ खूब सुधारी है ॥३॥
उनके शिष्य हैं आप प्यारे, लोग झुकावे मस्तक सारे।
क्रोध मान सव दूर विसारे, सिफत न जाए उचारी है ॥४॥
सरल स्वभावी क्षमा भण्डारी, भव्य जनों कोतुम सुखकारी।
शान्त दयालु हो ब्रह्मचारी, महिमा वहुत ही न्यारी है ॥५॥
कहाँ तक गुणोंको चन्दन गावे, महिमा का कुछ पार न पावे।
फरीदकोट में भजन वनावे, कहता सिफत तुम्हारी है ॥६॥

अस्तु तपस्वी श्री पन्नालालजी महाराज कविवर्य श्री चन्दन-लालजी महाराज भी वड़े ही शान्त एवं सुन्दर तथा मिलनसार महात्मा हैं। आप सच्चे गुणग्राही सन्त हैं।

तदनन्तर आप सब ठा० ११ फिरोजपुर, कसूर, लाहौर, अमृतसर, जंडियाला गुरु, कपूरथला, जालंधर, फगवाडा, लुधियाना, मालेर कोटला होते हुए एवं लुधियाने से उपाध्याय श्री आत्माराम जी महाराज के साथ ही तथा अन्य भी कितने ही सन्तों के साथ "संगरूर" पधारे। यहाँ पर माघ शुक्ला दूज को श्री सुदर्शन मुनिजी, श्री कस्तूर मुनिजी, श्री सरूप मुनिजी की दीक्षाएँ बड़ी धूमधाम से हुईं। यहाँ पर इस दीक्षा उत्सव पर करीब ३६ साधु और हजारों श्रावकगण एकत्र हुए थे जिनमे श्री श्री १००८ श्री गणावच्छेदक श्री बनवारीलालजी महाराज सबसे प्रधान एवं शान्तमूर्ति मुनिराज थे। जिनके दर्शन से ही सर्व प्रकार का कल्याण होता है।

इसके पश्चात् आप नाभा, पटियाला, बनूड़ आदि क्षेत्रों मे होते हुए गुरुकुल पञ्चकूला के वार्षिक उत्सव पर पधारे। यहाँ पर आपके प्रसिद्ध श्रावक श्रीमान सेठ चिरंजीलालजी विश्वम्भरदासजी जैन काछुवा निवासी ने आपके परामर्श से गुरुकुल को करीब ८—१० हजार रुपये का दान दिया। इस शुभ अवसर पर प्रसिद्ध वक्ता पं० श्री खजानचन्दजी महाराज ठा० ५ भी पधारे थे और आप सब ठा० १७ से इस उत्सव के बाद कालका, कसौली, सोलन, शिमला आदि पहाड़ी प्रदेश का भ्रमण करते हुए वापिस गुरुकुल पधारे। और यहाँ से पृथक् पृथक् विचरण करते हुए—

३७ वाँ चतुर्मास-सं० १९९९ का "काछुवा" जिला करनाल मे आपने ठा० ५ से किया। धर्मध्यान अच्छा हुआ।

३८ वाँ चतुर्मास-सं० २००० का "कैथल" जिला करनाल में किया। यहाँ पर आपके प्रशिष्य श्री कीर्तिचन्दजी उमेश-चन्द्रजी दोनों सहोदर भाइयों ने वैराग्य प्राप्त किया। धर्म ध्यान भी बहुत अच्छा हुआ।

३६ वाँ चतुर्मास–सं० २००१ "करनाल शहर" में ठा० ५ से किया। यहाँ पर आपके उपदेश में करीब १७ हजार रुपये का दान किया गया और एक बहुत बड़ा मकान जैन स्थानक के लिए लिया गया। अतः धर्म ध्यान अच्छा हुआ।

इसके पश्चात् आप नारनौल पधारे। यहाँ पर माघ शुक्ला ५ को श्री कीर्तिचन्दजी महाराज की दीक्षा हुई। इसी अवसर पर श्री मदनलालजी महाराज के पास भी श्री रामचन्द्रजी, श्री बद्रीप्रसाद जी, श्री प्रकाशचन्द जी, श्री रामप्रसाद जी की दीक्षाएँ हुई थीं।

४० वाँ चतुर्मास–सं० २००२ का "सफीदों मण्डी" जींद स्टेट में ठा० ६ से किया। यहाँ पर भी आपके उपदेश से प्रभावित होकर जनता ने करीब १४—१५ हजार का दान किया और धर्मध्यान भी बहुत अच्छा हुआ। श्री श्रीचन्दजी महाराज ने दश दिन का लम्बा उपवास किया।

४१ वाँ चतुर्मास–सं० २००३ का पुन आपने अपने प्राचीन क्षेत्र आगरा की लोहामण्डी मे पूज्य श्री के साथ ठा० ७ से किया। धर्मध्यान एवं धर्म प्रचार अच्छा हुआ।

४२ वाँ चतुर्मास–सं० २००४ का "एलम" जिला मुजफ्फरनगर मे ठा० ७ से किया। इसके बाद चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को सराय लुहारा जि० मेरठ में उमेशचन्द्रजी की दीक्षा हुई।

४३ वाँ चतुर्मास–सं० २००५ का "छपरौली" जिला मेरठ में ठा० ४ से हुआ। इस वर्ष आपके शिष्य श्री श्रीचन्दजी महाराज श्री हेमचन्दजी महाराज श्री कीर्तिचन्दजी महाराज ठा० ३ का चतुर्मास परासौली में हुआ था। इन दोनो क्षेत्रों मे धर्म ध्यान एवं धर्म प्रचार बहुत अच्छा हुआ।

४४ वाँ चतुर्मास–सं० २००६ का "रोहतक शहर" की "जैन धर्मशाला" मे ठा० ७ से किया। यहाँ पर महासती श्री

धनदेई जी ठा० ७ का भी चतुर्मास था। अतः धर्मध्यान बहुत अच्छा हुआ। श्री श्रीचन्दजी महाराज ने अठाई तप भी किया था।

४५ वाँ चतुर्मास सं० २००७ का 'हिसार' ठा० ४ से किया। इस वर्ष श्री श्रीचन्द जी महाराज श्री हेमचन्द जी महाराज ने आगरा पूज्य श्री की सेवा मे ठा० ४ से किया। और श्री उमेश चन्द जी महाराज ने ब्यावर के कुन्दन भवन में उपाध्याय पं० श्री अमर चन्द्र जी महाराज की सेवा मे ठा० ४ से किया। तीनो स्थानों मे अच्छी धर्म जागृति हो रही है।

उपरोक्त सभी क्षेत्रों मे श्री गणीजी महाराज की असीम कृपा से धर्मध्यान एवं धर्म प्रचार की बड़ी प्रभावना हुई। बहुत से श्रावक और श्राविकाओं ने तरह-तरह की धर्म क्रियायें सीखीं। बहुत से व्रत, पोषध, बेले, तेले यावत् अठाई आदि के उपवास बड़ी तादाद मे हुए तथा हो रहे हैं। और आपकी कृपा से प्रायः हर जगह श्री नमोकार मन्त्र के अखण्ड जाप भी होते रहे हैं जो आपने ही सर्व प्रथम १९९२ मे एलम के चतुर्मास मे प्रारम्भ कराया था। अत: सभी पर्यूषण पर्व बड़े समारोह से मनाए गए। जैन तथा अजैनसभी लोगों ने आपके धर्म उपदेशों को श्रवण करके धर्म लाभ उठाया। अतः सत्य धर्म का खूब प्रचार हुआ और हो रहा है।

महाराज श्री के प्रशिष्य

श्री ऋषिराजजी महाराज के दो मुख्य शिष्यों का अर्थात् पं० श्री प्यारेलालजी महाराज तथा गणी श्री श्यामलालजी महाराज का कुछ जीवन वृतान्त पिछले प्रकरण मे लिखा जा चुका है। जैसे कि पूर्व वर्णन हो चुका है आपका शिष्य वंश बड़े सुचारु तथा सुन्दर रूप से चल रहा है। आपके कुछ प्रशिष्यों का स्वल्प सा वृतान्त लिखना भी अनुचित न होगा।

जैसे कि पूर्व वंशावली में दिखाया जा चुका है, महाराज श्री श्यामलालजी के तीन दीक्षित शिष्य हैं। उनमें से बड़े श्री प्रेमचन्द्रजी महाराज हैं। उनका जन्म स्थान "दूजी का नगरा" जि० अलीगढ़ है। यह ग्राम हाथरस नगर के पास है। आपके पिताश्री का नाम श्रीमान् चौधरी होतीप्रसादजी और माता श्री का नाम श्रीमती चन्द्रावतीजी था। आप सं १९७७ में वैरागी हुए। उस समय आपकी आयु केवल १४ वर्ष की थी और इस प्रकार आपका जन्म सं० १९६३ का होता है। तीन चार साल वैरागी रहकर आपकी दीक्षा स० १९८१ के वैशाख सुदी पञ्चमी को "मितलावली" जि० मुजफ्फर नगर मे हुई। यह स्थान कांधला के पास है। दीक्षा समय से लेकर आप अपने गुरुवर्य के साथ ही विचरण कर रहे हैं। आपने शास्त्रों का बहुत अच्छा अध्ययन किया है और स्वाध्याय भी करते रहते हैं। आप कथा भी बहुत सुन्दर करते हैं। जो बड़ी ही वैराग्यमयी और शिक्षा पूर्ण होती है। आपके विद्या गुरु उपाध्याय कविरत्न श्री अमरचन्दजी महाराज हैं।

उनके दूसरे शिष्य श्री 'श्री चन्दजी' महाराज हैं। आपका जन्म स्थान जिला मुजफ्फर नगर का प्रसिद्ध शहर बुढाना नगर है। वहाँ पर तहसील है और बड़ी रौनक वाला स्थान है। यह 'हिन्दन' नदी के तट पर बसा हुआ है। आपका जन्म सं० १९६२ की कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा को अग्रवाल वंशी ला० नौरंगमलजी के सुपुत्र ला० नन्हेमलजी की धर्म पत्नी श्रीमती होशियारी देवीजी की कुक्षि से हुआ था। आप अभी दो मास के ही थे कि एक विशेष रोग के फैल जाने से आपके गृह के ११ आदमी एक ही मास के अन्तर्गत काल के मुख का ग्रास बन गये। उनमें आपके पूज्य माता पिता भी थे। इस प्रकार दो मास की अवस्था में बालक श्रीचन्दजी अनाथ हो गये।

माता पिता ने आपका नाम उस समय जनार्दन रखा था किंतु गोधन को जन्म होने से गोरधन नाम बोलने लगे थे। किन्तु कौन जानता था कि यही अनाथ बालक एक दिन नाथ और स्वामी बन जायेगा। अर्थात्—जो स्वयं निराश्रित हो गया, वह एक दिन अनेक भव्य जीवों का अवलम्ब बनेगा। जिसे कोई सँभालने वाला न रहा वह कई लोगों की जीवनियों को सँभालने वाला होगा। आपके पूज्य पिताजी का स्वर्गवास पहले हुआ। आपकी मातेश्वरी अपने नन्हे बच्चे को गोद में उठाकर अपने प्राणपति की अस्थियाँ लेकर श्री गंगाजी मे प्रवाहित करने के लिए गई थीं किंतु पति वियोग का उन पर इतना असर हुआ कि अतिशोक और खेद के कारण आप पागल हो गई और उसी अवस्था मे रोग ग्रस्त होकर वह भी अपने पतिदेव के पीछे ही स्वर्ग लोक को सिधार गईं और अत्यंत सुकोमल बालक श्रीचन्दजी को निराधार छोड गईं। आपके पूज्य पिताजी का नाम ला० नन्हामलजी था और माताजी का नाम श्रीमती होशियारी देवी था, बाबाजी का नाम ला० नौरंगमलजी खलीफा था। उनकी बजाजे की एक बड़ी दुकान थी और उनका नगर मे बड़ा सम्मान था। उनकी रुचि धर्म की ओर अधिक थी। उन्होंने एक भजन मंडली भी बनाई हुई थी। ये प्रसिद्ध और मान्य होने के कारण 'खलीफाजी' कहे जाते थे, जब दो मास का बालक श्रीचन्द्र इस प्रकार से निराश्रित रह गया तो उनकी मासी और फूफा जो कि श्यामली मे रहते थे उसे लेने के लिये आये। महाराज श्रीचन्द्रजी का एक बडा भाई भी था, जिसका नाम आसाराम है। किन्तु उसकी आयु भी उस समय केवल चार वर्ष की ही थी। फूफा और मासी ने इनका सब सामान तथा मकान बेच दिया और इन दोनों को लेकर कांधला स्टेशन पर से रेल में बैठ कर

श्यामली की ओर चल पड़े। मामी ने बड़े बालक आसाराम को पास बिठा लिया और श्रीचन्द्रजी को गोद में ले लिया। मार्ग में मामी के मन में विचार आया कि आसाराम तो पल चुका है उसको घर में रखने से तो कोई विशेष कष्ट न होगा। किन्तु श्रीचन्द्रजी जो कि केवल अभी दो मास का ही है। उसके पालन पोषण मे बड़ा कष्ट होगा। इसलिए श्रीचन्द्रजी को घर मे न ले चलना चाहिये। यह विचार उसके मन मे ऐसा दृढ़ हुआ कि उसने श्रीचन्द्रजी को रेल की खिड़की में से बाहर फैंकने के लिए अपने हाथों में लेकर बाहर हाथ बढ़ाये। पास बैठे लोगों को उसकी मनोभावना का तो कोई ज्ञान था ही नहीं, उन्होंने समझा कि असावधानी से बच्चे को इस प्रकार बाहर की ओर कर रही है। उन लोगों ने उच्च स्वर से कहा कि बाई! क्या तुम पगली हुई हो कि बालक को इस प्रकार से असावधानी से बाहर की ओर कर रही हो। ऐसा करने से वह नीचे गिर जायेगा। तब लोक लाज और लोक भय के कारण उसने बच्चे को पुनः अपनी क्रोड़ में ले लिया।

प्रश्न हो सकता है कि फूफा और मामी किस प्रकार गये। फूफा और फूफी क्यों न गये, इसका कारण यह था कि इनके पारिवारिक सम्बन्ध ही कुछ ऐसे थे कि तीन परिवार परस्पर सम्बन्धित थे। अर्थात्-इनके पिता की बहिन जिनसे व्याही थी उनकी बहिन इनके मामा की पत्नी थी और इनके मामा की भगनि तो इनकी माता थी ही। इसलिये इनका फूफा अपनी बहिन को साथ लेकर गया था।

जो दुष्क्रिया इन अनाथ बालकों की मामी ने करनी चाही थी, उसका ज्ञान सब लोगो को हो गया। जब बालक श्री चन्द्र जी के नाना को इसका समाचार मिला तो वह आकर

इस नन्हे बालक को लेगये। उनका नाम लाला मखमल चन्द्रजी था, उनकी आयु ६० वर्ष की थी और "रॉणी" नामक एक ग्राम मे रहते थे। नाना ने ही फिर आपका पालन पोपण किया। किन्तु अभी आपकी आयु १२ वर्ष की ही हुई थी, कि नाना जी की छत्र छाया भी छिन गई अर्थात् उनका भी स्वर्ग वास हो गया। उनका क्रिया कर्म बालक श्री चन्द्रजी ने ही किया था।

पाठक! तनिक विचार कीजे कि एक बालक की दो मास की आयु मे तो माता पिता देव लोक को पधार गये। फिर मामी ने उसे रेल से बाहर फेंकने की चेष्टा की। ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों मे भी वह सुरक्षित रहा। फिर नाना का भी वियोग हो गया। फिर फूफा और मामी पुन: आये और नाना के ग्राम मे ही बालक श्रीचन्द्रजी को उसके नाना की सम्पत्ति से ही एक छोटी सी दुकान खुलवाई किन्तु वह भी न चली। तब दो साल तक श्री चन्द जी इधर उधर घूमते रहे। उनका भाई आसाराम भी घर से दौड़ गया था और लाहौर मे एक हलवाई के पास कार्य करने लगा था। श्री चन्द्र जी भी एक बार उसके पास वहॉ जा पहुॅचे किन्तु स्वल्प काल ठहर कर वहॉ से भी चले आये और फिर अपने फूफा के पास जा पहुॅचे। इसी समय गणी श्री श्याम लाल जी महाराज भी वहॉ पर अर्थात्-श्यामली मे पधारे हुए थे। भावी वश श्री श्री चन्द्र जी महाराज को उनके फूफा लाला रामचन्द्र जी ने सट्टे के लोभ मे श्री गणी जी महाराज के पास भेजना शुरू किया बस फिर क्या था—गुरु देवने इस लोक का सट्टा न बताकर परलोक का अचूक सट्टा बता दिया, जिससे श्री श्री चन्द्र जी महाराज के हृदय पटल पर गणी जी महाराज का सत्संग अपना शुभ प्रभाव डालने लगा। संतों का सत्संग कितनी उत्तम वस्तु है। एक ऐसा बालक जिसके

सिर पर आजन्म किसी प्रकार का अंकुश न रहा हो, किसी प्रकार की शिक्षा न मिली हो, किसी ने उसके सुधार के लिए कोई प्रयत्न न किया हो, वह भी संतों के चरणों मे पहुँच कर सन्मार्ग का पथी वन सकता है। इस लिये साधु संग की महिमा कहीं नहीं जा सकती।

गणी श्री श्यामलालजी महाराज ने जब अपने आन्तरिक बल से देखा कि यह बालक श्रीचन्द्र वास्तव मे धर्म रूपी श्री का स्वामी वनने वाला है और चन्द्र के समान प्रकाश करने वाला है। तो उन्होंने उस पर अपना धार्मिक वात्सल्य दर्शाना प्रारम्भ किया। उनकी कृपा-दृष्टि से बालक श्रीचन्द्रजी की दैवी भावनाये जागृत होने लगीं और संतों के संग मे विशेष सुख प्रतीत होने लगा। संवत् १९८० के फाल्गुण मास मे महाराज श्रीचन्द्रजी गणीजी महाराज की शरण मे आये। आते ही उन्हें व्रत और पौषध कराया गया, जिसमे उन्होंने और भी सुख माना। फलतः उसी समय से वैरागी होकर अढाई वर्ष तक आपने विद्याऽभ्यास किया। स्वल्प काल पीछे ही वह गुरुजी से दीक्षा प्राप्ति की विज्ञप्ति करने लगे किन्तु गुरु महाराज ने कुछ और विद्याऽध्ययन तथा अभ्यास करने का आदेश दिया। अन्ततः जव महाराज श्रीचन्दजी को तीव्र वैराग्य हो गया और श्रामण्य धारण करने के लिये वह लालायित हो उठे तो गुरुजी ने उन्हें आषाढ़ कृष्णा द्वितीया सं० १९८३ को रविवार के दिन "वड़सत" जि० करनाल में दीक्षा देकर उन्हें संसार वन्धन से वाहर निकाल दिया। तव से आप अपना साधु धर्म पूरी सावधानी नियमपरता तथा दृढ़ता से पालन कर रहे हैं। आपकी अत्यन्त सौम्य प्रकृति है। शान्त मूर्ति है, धैर्य और क्षमा के आप पुञ्ज हैं। विद्याभ्यास आपने वडे परिश्रम से किया है। आपने संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी तथा उर्दू

भाषाओं में बड़ी योग्यता प्राप्त की है। पठन पाठन की ओर आपकी विशेष रुचि है। और सदैव सद् ग्रन्थों का स्वाध्याय करते रहते हैं। गुरु भक्ति आपमें कूट-कूट कर भरी हुई है। साथ ही तपस्याएँ भी अनेक कर चुके हैं। आपके विद्या गुरु कविरत्न उपाध्याय श्री अमरचन्द्रजी महाराज हैं। आप पर उपाध्याय श्रीजी की बहुत कृपा दृष्टि रहती है।

गणी श्रीश्यामलालजी महाराज के तीसरे दीक्षित शिष्य पं० श्री हेमचन्द्रजी महाराज हैं। आपका जन्म स्थान किरठल जि० मेरठ है। आपका जन्म वहाँ के एक प्रसिद्ध गौड़ ब्राह्मण घराने में हुआ था। आपके पूज्य पिताजी का नाम पंडित श्री बख्तावरसिंहजी था और माता का नाम श्रीमती छोटोदेवीजी है। आपके चार और भ्राता हैं। तीन आपसे बड़े हैं, और चौथा छोटा है। जिनके नाम पं० शोभारामजी, गिरवरसिंहजी वेगराजजी, अजबसिंहजी हैं। इनका गृहस्थ में भी भरा पूरा परिवार है। वे चारों उसी ग्राम में पैतृक भूमि पर कृषिकारी का कार्य करते हैं। आपकी पूज्य माताजी वास्तव में धर्म की मूर्ति हैं। उनकी धर्म लगन तथा उनके धर्म प्रेम का शुभ प्रभाव श्री हेमचन्द्रजी पर भी पड़ा। वैसे तो बाल्यकाल से ही बालक हेमचन्द्रजी की अपनी भावनाएँ भी बड़ी विमल थीं। और इसीलिये उन्हें शिशुकाल में ही ऋषिजी कह कर पुकारा करते थे किन्तु माता की उत्तम धार्मिक शिक्षा ने उन्हें सचमुच ऋषि बना दिया। और वह संसार को त्याग कर श्री ऋषि-राजजी महाराज के परिवार में ही आ गये। गणीजी महा-राज के सत्संग ने उन पर विशेष प्रभाव डाला और पूर्ण वैराग्य होने पर माघ शुक्ला त्रयोदशी सं० १९९३ को आपने नारनौल रियासत पटियाला में गुरु महाराज के कर कमलों से दीक्षा प्राप्त की। उनका दीक्षा काल विशेष महानता रखता

है। क्योंकि उसी समय और उसी स्थान पर श्री पृथ्वीचन्द्रजी महाराज को 'पूज्य' पदवी मिली थी। उस समय वहाँ पर २२ साधु विराजमान थे। उनसे शान्त मूर्ति पूज्य श्री खूबचन्दजी महाराज पं० श्री केशरीमलजी महाराज, तपस्वी श्री छब्बालालजी महाराज, पं० श्री हीरालालजी महाराज आदि ठा० ६ तथा व्याख्यान वाचस्पति धर्म भूषण श्री मदनलालजी महाराज, पं० श्री रामजीलालजी महाराज श्री बलवन्तसिंहजी महाराज आदि ठा० ५ भी विराजमान थे। श्री मदनलालजी महाराज के ज्येष्ठ शिष्य श्री जग्गूमलजी को भी उसी समय दीक्षा मिली थी। इस प्रकार से श्री हेमचन्द्रजी महाराज का दीक्षा काल बड़ा ही महत्त्व पूर्ण है। आप भी बडे सौम्य स्वभाव के साधु हैं। गुरु भक्ति तथा शास्त्र पठन में उन्हें विशेष सुख का अनुभव होता है। दीक्षा समय से अब तक दया धर्म तथा संयम धर्म का पालन पूर्ण श्रद्धा तथा दृढ़ता से कर रहे हैं। आप भी अपने गुरुदेव के चरणों में रहकर ही विचरण करते हुए गुरु सेवा, शास्त्र स्वाध्याय, तपस्या तथा अन्य साधु धर्म क्रियाएँ भगवान् महावीर स्वामी के पवित्र आदेश अनुसार पालन करके मोक्ष मार्ग की ओर अग्रसर हो रहे हैं। आप कवि भी हैं, आपने हेम गीताञ्जली और शान्ति जिन स्तुति नामक दो पुस्तकों का पद्यात्मक निर्माण किया है। जो बहुत ही सुन्दर एवं शिक्षा प्रद हैं। आपने भी संस्कृत प्राकृत एवं हिन्दी का अच्छा अध्ययन किया है और कर रहे हैं।

"महाराज श्री के प्रपौत्र शिष्य"

हमारे चरित्र नायक पंडित रत्न चारित्र चूड़ामणी श्री ऋषिराजजी महाराज के तीन प्रपौत्र शिष्य हैं। जिनमे प्रथम श्री कस्तूरचन्द्रजी महाराज हैं। आपका जन्म जिले हिसार के

"खरक पूनिया वाली" नामक ग्राम मे हुआ है, और आपके पूज्य पिताजी श्रीमान् चौधरी सिरसूरामजी एवं आपकी माता श्रीमती लक्ष्मीबाईजी बडे ही धर्म परायण व्यक्ति है। आपका एक वड़ा भाई भी है। जिसका नाम रिसालसिंहजी है। आप वालकपन से ही साधु वनने की इच्छा रखते थे। अतः आप १३-१४ वर्ष की आयु मे सं० १६६७ के श्रावण मास मे गुरुदेव गणी श्री श्यामलालजी महाराज के पुनीत चरणों मे अम्वाले शहर स्वयं पहुँच गए थे।

पुन आपके पिताजी आपको एक वार समझाकर घर ले जाने के लिए आए, किन्तु आपने जाने से पूर्णतया इन्कार कर दिया था तथापि महाराज श्री के वहुत कुछ समझाने बुझाने से एकवार तो चले गये। वहाँ जाने पर आपका मन ससार से फिर उद्विग्न रहने लगा। अत' आप कुछ दिन के पश्चात् पुन अम्वाले शहर मे ही गुरुदेव के चरणा मे पहुँच गए। इसी से आपके तीव्र वैराग्य का पता चलता है।

एक वार जव आप महाराज श्री के समझाने से पिताजी के साथ जा रहे थे तो रास्ते मे पीछे से वापिस ही अम्वाले की ओर चल दिये। जव आपके पिताजी ने वापिस मुड़कर के देखा तो आपको गोपालकों के द्वारा पकड़वा कर आगे करके एवं हाथ पकड़कर घर तक लेगया, किन्तु जिनके मन मे इतना तीव्र वैराग्य होता है वे घर की दलदल मे कैसे फँस सकते है। अत' स्वल्प काल मे ही वापिस अम्वाले शहर गुरुदेव के चरणों मे पहुँच गए। ये कोई न कोई पिछले जन्म के ही संस्कार प्रतीत होते हैं। यहाँ का तो कोई भी कारण दृष्टिगोचर नहीं होता है।

अस्तु' आपने करीव डेढ़ वर्ष तक तपस्वी श्री श्रीचन्द्रजी महाराज के पास विद्याऽध्ययन करके एवं सामायिक प्रतिक्रमण,

पच्चीस बोल का थोकड़ा, आठ प्रवचन माता का थोकड़ा आदि शास्त्रीयज्ञान प्राप्त करके अपने आपको साधुदीक्षा के योग्य पूर्ण रूपेण प्रमाणित कर दिया। तब आपके पिताजी ने फरीदकोट आकर पुनः आपको पूर्ण रूपेण साधु बनने की आज्ञा प्रदान की। और तभी से आपको श्री गणीजी महाराज ने दीक्षा देने का निश्चय किया। अस्तु श्री गणीजी महाराज ने आपको "संगरूर" नगर में सं० १९९८ के माघ शुक्ला द्वितीया के दिन साधु दीक्षा दी। और इसी शुभ अवसर पर उपाध्याय श्री आत्मारामजी महाराज के पास श्री सरूपचन्द्रजी की जो आपके ही गाँव खरक के रहने वाले आपके बिरादरी भाई हैं—इनकी और धर्मभूषण श्री मदनलालजी महाराज के पास श्री सुदर्शनलालजी की—जो रोहतक के प्रसिद्ध वकील श्रीमान् ला० चन्दगीरामजी के सुपुत्र थे तथा हिंदी उर्दू अँग्रेजी संस्कृत में मैट्रिक तक की सरकारी परीक्षाएँ भी पास कर चुके थे इन तीनों वैरागी भाइयों की बड़ी धूमधाम से दीक्षाएँ हुईं। दीक्षा उत्सव भी बड़े समारोह से मनाया गया था जिसमें पटियाला महाराज के दो हाथियों पर आपका बड़ा शानदार जलूस निकला था और १०-१५ हजार जन-समूह के बीच बड़े ही उत्साह से दीक्षाएँ हुई थीं। इस समय वहाँ पर ३६ साधु उपस्थित हुए थे। अस्तु—

तभी से आप बड़े उत्कृष्ट वैराग्य के साथ साधु दीक्षा का पालन कर रहे हैं। आप बड़े ही उच्चकोटि के वैरागी हैं। इसीलिए आपको वैराग्य मूर्ति एवं आत्म ध्यानीजी भी कहते हैं। आप गुरु सेवा में अधिक रस लेते हैं। यही आप के कल्याण प्राप्ति का सबसे उत्कृष्ट लक्षण है। आप श्री पंडित प्रेमचन्द्रजी महाराज की निश्राय के शिष्य हैं। अतः श्री गुरुदेव की कृपा से आप चिरकाल तक संयम का पालन करते हुए इसी प्रकार आत्म कल्याण करें।

अस्तु–हमारे चरित्र नायक जी के दूसरे और तीसरे प्रपौत्र शिष्य श्री कीर्ति चन्द्र जी महाराज एवं श्री उमेशचन्द जी महाराज हैं। आप दोनों सहोदर भ्राता हैं। आपका जन्म स्थान कैथल शहर जिला करनाल है। आपके पूज्य पिताजी श्रीमान् धीमान् ब्राह्मण पंडित परसराम जी बड़े ही धर्मप्रेमी—पुत्रहितैषी सज्जन थे। एवं आपकी माता जी भी श्रीमती गणपति देवी बड़ी ही भाग्यवती थीं, जिसने आप जैसे सुपुत्रों को जन्म दिया। किन्तु अभी आप दोनों भाई क्रमश: ५ और ७ ही वर्ष के थे। जभी आपकी माता जी का स्वर्गवास होगया। तभी से आपके पिताजी आपके कल्याणार्थ आपको किसी पवित्र आत्मा वाले जैन साधु के चरणों में समर्पण करना चाहते थे। इसी लिए कैथल के श्रेष्ठ श्रावकों से सत्परामर्श भी करते रहते थे। अत: शुभ अवसर मिलने पर सं० २००० के चतुर्मास में श्रावण शुक्ला पञ्चमी के दिन आप दोनों को गणी श्री श्यामलाल जी महाराज के पुनीत चरणों मे अपनी पवित्र भावना के एवं समुचित शिक्षाओं के साथ समर्पित किये। और आप दोनों ने भी सदैव के लिए सहर्ष श्री गुरुचरणों में रहकर आत्म कल्याण करना स्वीकार किया, तभी से आप वैरागी हुए। इस समय आपकी आयु क्रमश: १४ और १६ वर्ष के करीब थी।

देखिये—दैव की कैसी विचित्र गति है। जिस दिन आपके पिताजी आप को श्रीगुरु चरणों में सौपकर घर गए उसके ९ मे दिन ही आपके पिताजी का विसूचिका अर्थात्–हैजे से अचानक स्वर्गवास हो गया। और इसके कुछ ही दिनों बाद एक पञ्चायत में आप से पूछा गया कि—आपकी क्या इच्छा है। तब आपने भरी पञ्चायत मे सबके समक्ष खम ठोक कर एवं जमीन पर मुक्का मार कर कहा कि "जहाँ हमारा पिता

हमको छोड़कर गया है, वहाँ से हम नहीं डिगेंगे। चाहे हमारे प्राण भले ही चले जावें किन्तु उसके प्रण को पूरा पुगावेंगे। और श्री गुरुदेव के पवित्र चरणों को जो एक बार पकड़ लिये हैं, उनको हम कदापि नहीं छोड़ेंगे। एवं पिताजी के प्रण को और उनकी अन्तिम शिक्षाओं को हम हमेशा याद रखेंगे"।

धन्य है आपकी इस पवित्र बुद्धि, पितृ भक्ति, एवं गुरु भक्ति को। आपने अपने पिताजी के हितकारी एवं सर्वसुन्दर वचनों का पूर्ण रूपेण पालन किया। और कैथल की समस्त पञ्चायत ने भी जिसमें आपके मामा एवं आपकी बिरादरी के भी कितने ही सज्जन उपस्थित थे सबने यही उचित समझा कि इन दोनों का श्री गुरुदेव के चरणो में रहकर ही आत्मकल्याण करना अति श्रेयस्कर है। इसी में इनकी भलाई है। यही इनके पिता की भावना थी। और यही इनकी भावना है। अत· हमारी भी सबकी यही इच्छा है कि श्री गुरुदेव की सेवा मे रहकर ही आत्मकल्याण करे। अतः समस्त पञ्चायत ने सर्व सम्मति से यही प्रस्ताव पास किया और इसी के अनुसार आपने अपने जीवन को दृढ़ करके संयम आराधना की साधना की।

अस्तु—विचरण करते हुए जिस समय आप श्री गुरुदेव श्री गणीजी महाराज के साथ नारनौल (पटियाला स्टेट) में पहुँचे तो वहाँ पर सं० २००१ को माघ शुक्ला पञ्चमी के दिन वैरागी श्री कीर्तिचन्द्रजीने अपने अन्य पाँच साथियों के साथ पूज्य श्रीपृथ्वीचन्द्रजी महाराज, गणी श्रीश्यामलालजी महाराज, धर्मभूषण श्री मदनलालजी महाराज, एवं उपाध्याय श्री अमर-चन्द्रजी महाराज आदि बहुत से साधुओं और हजारों नर नारियों के समक्ष बड़े उत्साह से साधु दीक्षा धारण की। और आप तपस्वी श्री श्रीचन्द्रजी महाराज के शिष्य हुए।

इसी शुभ अवसर पर श्री रामचन्द्रजी, श्री बद्रीप्रसादजी एवं इनके दो सुपुत्र श्री प्रकाशचन्द्रजी श्री रामप्रसादजी ने भी श्री मदनलालजी महाराज की निश्राय में साधु दीक्षाएँ ली थीं।

अस्तु–आपके लघु भ्राता श्री उमेशचन्द्रजी ने भी इसी शुभ अवसर पर 'नारनौल' में ही दीक्षा लेने का बहुत आग्रह किया। किन्तु श्री गुरुदेव ने आपको अभी अल्पायु समझ कर दीक्षा नहीं दी थी। केवल श्री कीर्तिचन्द्रजी को ही दीक्षा दी गई थी। और इसके साढ़े तीन वर्ष के पश्चात् सं० २००५ चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन श्रीवीरजयंति के शुभ अवसर पर "सराय लुहारा" जि० मेरठ मे हजारों नर नारियों के समक्ष पूज्य श्री पृथ्वीचन्द्रजी महाराज, श्री गणीजी महाराज एवं श्री उपाध्यायजी महाराज के पुण्य प्रताप से वैरागी श्री उमेश चन्द्रजी की साधु दीक्षा बडी धूमधाम से हुई और आप श्री हेमचन्द्रजी महाराज के शिष्य हुए।

इसी शुभ अवसर पर महासती श्री पन्नादेईजी एवं महासती श्री पद्मश्री जी की श्री फूलमतीजी, श्री पवन-कुमारी जी नामक दो शिष्याओ की भी दीक्षाएँ हुई थीं। इस प्रकार जबसे आप दोनों भ्राताओं ने साधु दीक्षाएँ धारण की है तभी से आप अपने जीवन को परम सुधार की ओर ले जा रहे हैं। एवं आत्म कल्याण कर रहे हैं। आपकी बुद्धि बड़ी स्वच्छ है और आप की भावना बड़ी ही पवित्र है। इस समय शास्त्रों का अध्ययन एवं श्री गुरुसेवा, ये ही दो आपके सुन्दर लक्ष्य हैं। अस्तु—भगवान् महावीर की अपार कृपा से एवं श्री गुरुदेव श्री गणीजी महाराज की पवित्र दया दृष्टि से आप अपने लक्ष्य मे पूर्ण सफलता प्राप्त करके अपना भी आत्म कल्याण करें और चिरकाल तक भारत की जनता का भी सच्चा कल्याण करे यही एकमात्र शुभ भावना है। ॐ शान्ति: ३॥ ॐ अर्हम्॥

दिव्य-ज्योति

श्री ऋषिराजजी महाराज के

दिव्य उपदेश

महाराज श्री के उपदेश

श्री ऋषिराजजी महाराज के व्याख्यान नीति और धर्म के ठोस उपदेशों से भरपूर होते थे। थोथी सैद्धान्तिक बातें कम रहती थीं। उपदेश ऐसी जनता मे होते जिसमें सब प्रकार के नर नारी होते थे। वे सभी कुछ न कुछ प्राप्त कर लेते थे। उपदेश होना ही ऐसा चाहिए कि जहाँ सैकड़ों की संख्या मे स्त्री, पुरुष, बालक, बालिकाएँ आदि सभी प्रकार के व्यक्ति हों और उनमें से कोई भी निराश न जाए। ऐसी सभा में ऐसा व्याख्यान होना चाहिए जिसमें सभी के काम की बातें हों। श्री ऋषिराजजी महाराज के उपदेश इस बात में कभी नहीं चूकते थे। उनके व्याख्यान विविध प्रकार के दृष्टान्तों से भरे होते थे, जिन्हें वे जैनागम तथा दूसरे ग्रन्थों के साथ साथ इतर सम्प्रदायों के धार्मिक ग्रन्थों तथा सामान्य जीवन से भी उद्धृत करते थे। अतः आपके पुनीत व्याख्यानों में दिगम्बर, श्वेताम्बर जैन शास्त्रों के अतिरिक्त वेद, वेदांग, भाष्य, षट् शास्त्र, उपनिषद् गीता, भागवत्, पाण्डव गीता, पुराण, स्मृति, वाल्मीकीय रामायण, महाभारत शान्ति पर्व, चाणक्य नीति, विदुर नीति, हितोपदेश, पञ्च तन्त्र, रघुवंश तथा सिन्दूर प्रकरण, कर्पूर प्रकरण, कस्तूरी प्रकरण, हिंगलु प्रकरण, गोमट सार, जीव काण्ड, कर्मकाण्ड, त्रिलोक प्रज्ञप्ति, मूलाचार और भर्तृहरि के नीति शतक एवं वैराग्य शतक आदि बहुत से ग्रन्थों के महत्त्वपूर्ण उदाहरण प्रायः आते रहते थे। इनमें से बहुत से ग्रन्थों के कितने ही प्रकरण तो आपको समग्र मुखाग्र थे और कितने ही सम्पूर्ण ग्रन्थ कण्ठस्थ थे।

इसीलिए आप समय-समय पर इनके सुन्दर-सुन्दर उदाहरण दिया करते थे। इनमें भी आप अधिकतर सिन्दूर प्रकरण, कस्तूरी प्रकरण, वैराग्य शतक, नीति शतक, चाणक्य नीति आदि के श्लोकों को बहुत बार बड़ी मधुर ध्वनि के साथ सुनाया करते थे। आपका गायन स्वर भी बहुत मधुर एवं अति गम्भीर होता था। जिस समय आप किसी भी शिखरणी शार्दूल, मन्दाक्रान्ता, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्र वज्रा आदि छन्दों का अपनी मधुर एवं गम्भीर ध्वनि से गायन किया करते थे तो उस समय रास्ते चलते पथिक भी खडे होकर सुनने लग जाते थे। आपकी वाणी मे अत्यन्त आकर्षण होता था। आपको उर्दू फारसी का भी अच्छा अभ्यास था। आपको हदीशों की बहुत सी शिक्षाप्रद कहानियाँ जवानी याद थीं। अत: आप संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी उर्दू, गुजराती एवं महाजनी हिन्दी और फारसी आदि बहुत सी भाषाओं और लिपियों के ज्ञाता थे। अस्तु—

आप भिन्न-भिन्न विषयों की जिस रूप से चर्चा करते थे, उससे प्रतीत होता था कि वे दूसरे धर्मों के प्रति न केवल सहनशील ही थे किन्तु विध्यात्मिक मित्रता तथा सम्मान का भाव रखते थे। यह बात भी उनकी उदारता और विशेषता को और भी अधिक महत्त्व देने वाली थी। जैन साहित्य के गहरे अध्ययन के साथ-साथ अन्य धर्म ग्रन्थों से भी लाभदायक प्रवचनों का प्रमाण अपने भाषणों में दिया करते थे। इस बात के लिए भी आप अपनी श्रेणी के विशेष साधु थे। उनमें जनता को प्रभावित करने की जो शक्ति थी उसका एक कारण यह भी है कि वे संसार की विद्यमान परिस्थिति से पूर्णरूपेण जागरूक रहते थे। ततकालीन राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं से वे अपरिचित नहीं रहते थे। आधु-

निक जनता को जो प्रलोभन और पाप घेरे हुए हैं, वे उन्हे जानते थे और उन्हें दूर करने के लिए निर्दोष परामर्श देते थे। यह सभी बातें उनके उपदेशों को सजीव बना देती थीं।

सन्तति नियम और ब्रह्मचर्य

अस्तु एक दिन उन्होंने सन्तति नियम पर व्याख्यान दिया जिस प्रकार विषय महत्त्व पूर्ण था, उसी प्रकार पूज्य श्री का व्याख्यान भी मनोहर था। फैशन के इन अभागे दिनों में जब कि ब्रह्मचर्य की कीमत और उसके महान् अचूक परिणाम सर्वथा भुला दिये गये हैं, स्त्रियाँ और पुरुष जीवन के वास्तविक नियमों को भुला कर अपने कुविचारों का खुले रूप से प्रचार करते हैं। सन्तति नियम के विज्ञापन देखते हैं। और कृत्रिम साधनों को काम में लाते हैं। इस विषय का निरूपण करने के निमित्त पूज्य श्री ने भगवान् नेमीनाथ के उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य का उदाहरण देकर स्पष्ट किया। और फिर कहा कि यह संसार एक उद्यान के तुल्य है और इसमें रहने वाले सभी प्राणी विविध प्रकार के वृक्ष हैं। मनुष्य आम्र वृक्ष है। साधारण लोग यह नहीं जानते कि इस वृक्ष को मीठा और हरा भरा कैसे रखा जाए। रसनेन्द्रिय उसके वश में नहीं होती। इसी प्रकार दूसरी इन्द्रियों पर भी नियन्त्रण नहीं होता। बच्चे पैदा होते हैं और दुःख एवं आपत्तियाँ खड़ी हो जाती हैं। यदि वे ब्रह्मचर्य का पालन करें तो शक्ति, ज्ञान, सम्मान, बल और धर्म सभी स्वयं आ जाएँगे। पूज्य गुरुदेव ने बहुत से महापुरुषों के उदाहरण दिये जिन्होंने वीर्य की रक्षा करके संसार में अमर नाम प्राप्त किया है। उन्होंने कहा कि मनुष्य को विवेक पूर्वक समझना चाहिए कि उसका शत्रु कामवासना है या सन्तान। यदि इस बात को ठीक-ठीक

समझ लिया जाये तो उपरोक्त समस्या अपने आप सुलझ जाए। भीष्म पितामह का और राजा भर्तृहरि का उदाहरण देते हुए आपने बताया कि प्राचीन समय में लोग कितने बलवान् और साहसी होते थे। और आजकल उसके विपरीत वीर्य नाश करने तथा कुटिल भावों और विचारों के रखने के कारण कितने निर्बल और निरुत्साहित हो गये हैं। सती अंजना का उदाहरण देकर आपने श्रोताओं के चित्त में बिठा दिया कि पत्नी को अपने पति मे और पति को अपनी पत्नी मे पूर्ण तया अनुरक्त रहना चाहिए। किन्तु उनका प्रेम अपनी काम वासना की पूर्ति के लिये न हो। अपितु परस्पर आत्मिक बल की वृद्धि मे सहाई होना चाहिए। इसी में ही स्त्री और पुरुष का लाभ है। इसी स्वर्ण नियम का पालन करते हुए हमारे पूर्वज शान्त और सुखी थे। और इसी नियम का उल्लंघन करने के फल स्वरूप दुःख और अशान्ति की बाढ़ें आई हुई हैं। निर्बलता तो अपने अन्दर है। मनोनिग्रह तथा इन्द्रिय दमन की ओर कुछ ध्यान नहीं दिया जाता किन्तु दोष सन्तान उत्पत्ति को दिया जाता है। समाज के दिन प्रति दिन निर्बल होने का यही कारण है। काम वासना की पूर्ति के फल स्वरूप उत्पन्न हुई सन्तान भी निर्बल और मन्द विचारों वाली होती है।

एक दिन आपने समाज की वर्तमान दशा पर भाषण दिया और आपने कहा कि इस समय पारस्परिक ईर्ष्या द्वेष और विरोध के मन्द विचारों से समाज में कितनी घोर अव्यवस्था हो रही है। इसलिये आप श्री जी ने उपस्थित श्रोताओं को कहा कि इस प्रकार के दोष युक्त विचारों का पूर्ण परित्याग कर देना चाहिए। हमे प्रत्येक प्राणी को अपनी आत्मा के समान समझना चाहिए। परस्पर पवित्र प्रेम बढ़ा

कर समाज और मानव मात्र के लिये उपयोगी बनने का प्रयत्न करना चाहिए। पर्व के दिन लोग नवीन वस्त्र धारण करते हैं। अपने मित्रों और सम्बन्धियों से मिलने जाते हैं। और अपनी शुभ कामना प्रकट करते हैं। किन्तु दूसरे ही दिन द्वेष और झगड़ा खड़ा कर लेते हैं। ऐसी दशा में मिथ्या प्रदर्शन से कोई लाभ नहीं है। एकता और प्रेम की भावना वास्तविक रूप में होनी चाहिए। पर्व के दिन दुखी और असहायों के घर जाना चाहिए। यदि वे उनके कष्टों को किसी भी मात्रा में दूर करने मे सहायक हो सके, तो उस पर्व की वास्तविक अर्थ में आराधना होगी। फिर आप श्री जी ने कहा कि हमें आज सोचना चाहिए कि ससार में हमारी दशा इतनी गिरी हुई क्यों है ? और किन साधनों तथा उपायों से हमारे समाज का मस्तक ऊँचा किया जा सकता है। धर्म सिद्धान्तों को हृदयङ्गम करके अपनी त्रुटियों पर विचार करना चाहिए। आत्म परीक्षा द्वारा आत्म-संशोधन करना चाहिए।

इसी प्रकार से अत्यन्त प्रभावशाली और शिक्षा युक्त व्याख्यान आप श्री जी स्थान-स्थान पर देकर श्रद्धालु भक्तों के हृदय पटल को उज्ज्वल बनाने का प्रयत्न करते थे। उनके मनोहर वचनों को श्रवण करने के लिये प्रत्येक विचार तथा जाति के लोग बिना किसी भेद भाव के आते थे। इसका कारण यह था कि उनके उपदेश सारे मानव समाज के हितार्थ होते थे। वे जैन धर्म के सिद्धान्तों की व्याख्या करके इस बात को स्पष्ट किया करते थे कि जैन धर्म मनुष्यता का धर्म है और जैन धर्म के सिद्धान्त प्रत्येक नरनारी के लिये निर्धारित किये गये है। इसीलिये जो भी लोग उनके उपदेशों को सुनते थे वे उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहते थे। वे अपने जीवन

सुधार के निमित्त कोई न कोई सुन्दर शिक्षा ग्रहण करके जाते थे। अपनी-अपनी भावना के अनुसार श्रोतागण श्री ऋषिराजजी महाराज के वचनामृत से लाभ उठाते थे। उनके कुछ व्याख्यानो का वृत्तान्त आगे दिया जाएगा। मुनिवर के महान् तत्त्व पूर्ण उपदेशों से जनता मन्त्र-मुग्ध सी हो जाती थी। प्रतिदिन सहस्रों नर-नारी की भीड उनके उपदेशों को श्रवण कर अपने आपको धन्य एवं कृतकृत्य मानती थी। प्रत्येक श्रावक तथा दूसरे भाई इस प्रकार के उपदेशों पर गम्भीर रूप से चर्चा किया करते थे। वे परस्पर मुनिवर की प्रकाण्ड विद्वत्ता, सत्य प्रियता, धार्मिकता और तपस्या की बहुत-बहुत प्रशंसा किया करते थे। वे अपने भाग्य की सराहना किया करते थे कि उन्हें सन्मार्ग-प्रदर्शन कराने के लिए इस प्रकार के वीतराग तपस्वी वहाँ विराजमान होकर दत्त चित्त से इस कार्य मे संलग्न है। जहाँ भी आप पधारते थे धर्म, ध्यान, तपस्यादि सदानुष्ठानों की वहाँ धूम सी मच जाती थी। क्योंकि महाराज श्री ऋषिराजजी केवल कथन मात्र से ही उपदेश नहीं दिया करते थे प्रत्युत जो कुछ वह कहते थे उसे स्वयं क्रिया-रूप मे लाते थे। अन्यथा जो मनुष्य केवल सिद्धान्तो को सुन्दर शब्दों मे कथन करता है किन्तु स्वयं उन सिद्धान्तो का अनुसरण नही करता, उसके उपदेश का कुछ प्रभाव नहीं होता। फलत आप श्रीजी के उपदेश श्रोताओं के हृदय पटलों पर अङ्कित हो जाते थे। और वह प्रभाव चिरस्थायी होता था आप केवल कथनी से संतुष्ट न होते थे वरन अपने कथन को क्रियात्मक रूप देते थे जैसे कि कबीरजी ने कहा है।

> कथनी के सूरे घने करनी का है कोय।
> जो करनी का सूरमा मित्र हमारा सोय॥

साम्यवाद

एक बार पूज्य गुरुदेव श्री ऋषिराजजी महाराज ने साम्यवाद पर भाषण देते हुए कहा, कि आज संसार में साम्यवाद के सम्बन्ध में इतना कोलाहल मचाया जा रहा है किन्तु जैन धर्म की तो नींव ही साम्यवाद पर स्थित है। कठिनता यह है कि लोग न अपने धर्म सिद्धान्तों को समझते हैं, न धर्म ग्रन्थों का स्वाध्याय करते हैं और नहीं साम्यवाद के तत्त्व को जानने का प्रयत्न करते हैं। एक समय था कि भारत साम्यवाद का ही अनुयाई था। रामायण तथा अन्य धर्म ग्रन्थों के निरीक्षण से विदित होता है कि देश का कोई एक छोटा सा बालक भी भूख से नहीं मरता था। जिसका कारण यह था कि प्रत्येक नर नारी लोभ से उपरी रह कर निरर्थक धन संचय की चेष्टा नहीं करता था। अपितु अपने सम्बन्धियों, मित्रों तथा पड़ोसियों की आवश्यकताओं का ध्यान रखना अपना कर्त्तव्य समझता था। रामायण के पढ़ने वाले भली प्रकार जानते हैं कि दुराचारी रावण तथा उसके साथियों का विध्वंस करके श्री रामचन्द्रजी ने कभी यह विचार भी नहीं किया था कि लंका का समस्त क्षेत्र या उसका कोई भाग अपनी राजसीमा में सम्मिलित करलें। इसके विपरीत श्री राम ने लंका पर विजय प्राप्त करके रावण के छोटे भाई विभीषण के ही अर्पण कर दिया। वहाँ से कुछ भी धन या सम्पत्ति अपने साथ नहीं लाये। महाभारत के समय यह अवस्था नहीं रही थी। किन्तु फिर भी इन शुभ विचारों का नितान्त अभाव नहीं हुआ था। जिस समय अर्जुन ने युद्ध भूमि में दोनों दलों के वीर योद्धाओं को एक दूसरे के सम्मुख आक्रमण करने के निमित्त तत्पर देखा, तो उसने युद्ध करने से ना कर दी। और

कहा था कि मैं विजय को नहीं चाहता और न मुझे राज्य तथा सुखों की ही कामना है। क्योंकि जो राज्य सुख अपने स्वजनों का घात करके लिया जाए उसका क्या लाभ है?

अर्जुन के इन शब्दों से प्रकट होता है कि वह न केवल स्वयं सम्पत्ति तथा राज्य लालसा के भाव से दूर था, प्रत्युत उसने स्पष्टतया कह दिया कि जो राज्य प्राप्त करना है वह अपने निमित्त नहीं, किन्तु उनके लिये है जो युद्ध करने की भावना से सम्मुख उपस्थित हुए हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि अर्जुन राज्य को केवल अपनी सम्पत्ति नहीं समझता था, अपितु सब को उसका भागी मानता था। इसीलिये उसने इन शब्दों का प्रयोग किया कि जिनके लिये राज्य लेना है वे सामने खड़े हैं और कहा कि उनको मार कर राज्य लेना घोर है। जैन धर्म के सिद्धान्त तो साम्यवाद का मुख बोलता चित्र है। चतुर्विध जैन संघ मे साधु और साध्वी तो भोजन करने और तन ढकने के अतिरिक्त अपने लिये किसी वस्तु की इच्छा ही नहीं करते। वे सब कुछ छोडकर सर्व साधारण के लिये पूर्ण त्याग से काम लेते हैं और श्रावक तथा श्राविकाओं के बारह व्रतों में प्रत्येक क्रिया की मर्यादा बाँधने का आदेश है, अर्थात् उन व्रतों मे खाने का प्रमाण बाँधना आवश्यक कहा गया है। एवं वस्त्र, धन धान्य, अन्न, तथा अन्य गृह-सामग्री की प्रत्येक वस्तु का अनुमान निश्चित करने की कठोर आज्ञा है। यह पृथक् बात है कि आज के जैन धर्मी केवल पद्धति रूप मे ही उन बारह व्रतों का नियम धारण करते हैं, परन्तु उनका अनुकरण करना आवश्यक नहीं समझते, इससे धर्म सिद्धान्तों की सत्यता और उच्चता में कोई न्यूनता नहीं आती। आपने कहा कि यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यदि श्रावक के बारह व्रतों मे बताए

हुए प्रमाण बाँध लिये जाएँ, तो संसार में कोई नंगा या भूखा या विना आश्रय के नहीं रह सकता और यही साम्यवाद का सच्चा स्वरूप है।

रूस तथा अन्य देशों के आधुनिक साम्य वाद में अनेक दोष हैं। किन्तु जैन धर्म का साम्यवाद पूर्णतया दोष रहित है, और उसको धारण कर लेने से ही जगत् में सच्चे सुख और शान्ति का प्रसार हो सकता है। जब तक मनुष्य समाज निःस्वार्थता से इन पवित्र नियमों का पालन नहीं करेगा, तब तक न युद्ध बन्द हो सकते हैं, न नर संहार के पाप युक्त भयंकर दृश्य दूर हो सकते है। और नहीं संसार से अशान्ति का अड्डा उठ सकता है। यदि मानव समाज सुख और शान्ति का अभिलाषी है तो उसे जैन धर्म में बताए हुए सच्चे साम्य-वाद की शरण लेनी होगी। अन्यथा उनके दुःखो और कलेशों का कभी अवसान नहीं हो सकता।

आश्चर्य की बात यह है कि हम तो अपने धर्म सिद्धान्तों की अवहेलना करके पश्चिमी सभ्यता के पीछे भाग रहे हैं और पश्चिमी लोग अपनी सभ्यता के क्लेश-जन्य नियमों से दुखित होकर हमारी ओर तक रहे है कि हम उन्हें शान्ति और सुख का मार्ग दिखाये। किन्तु जो स्वयं अपने नेत्र मूँद कर बैठा है वह दूसरे का पथ प्रदर्शक कैसे बन सकता है। इस लिये हमें उचित है कि हम चक्षु रखते हुये दृष्टि हीन न बनें और जिनेश्वर भगवान् के कथित मार्ग पर चलें ताकि हम स्वयं सुखी हों और दूसरों को सुखी बना सकें। इस समय कुछ विशेष पवित्र आत्माओं के अतिरिक्त प्रत्येक नरनारी दुखित और पीड़ित है। उनकी यह व्यथा महावीर प्रभु के चरण चिह्नों का अनुसरण करने से ही दूर हो सकती है।

"ऊँच और नीच"

एक समय श्री ऋपिराजजी महाराज ने उपर्युक्त विपय पर व्याख्यान देते हुए कहा कि जैन धर्म गुणवादी धर्म है, वह गुण को ही प्रधानता देता है। उसने जाति वाद को कभी भी स्वीकार नहीं किया। श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने सुस्पष्ट शब्दों में घोपणा की है "नदिसे जाइ विसेस कोइ" अर्थात् मनुष्य मनुष्य मे भेद डालने वाली कोई भी जाति कहीं दृष्टि गोचर नहीं होती। ऐसी अवस्था मे जैन धर्म किसी भी मनुष्य को जन्म से अस्पृश्य स्वीकार नहीं करता। नीच कर्म के उदय से मनुष्य बुरा वन जाता है और उत्तम कर्मों से भला वन जाता है। अन्यथा हाथी, घोड़ा, गाय, भैंस आदि यद्यपि तिर्यंच योनि मे होते हैं तथापि इनको अस्पृश्य नहीं माना जाता, अपितु मनुष्य गाय इत्यादि का दूध पीता है तथा हाथी, घोड़ा आदि की सवारी ग्रहण करता है।

शास्त्र के अनुसार कोई भी अस्पृश्य नहीं होता। चण्डाल कुल मे उत्पन्न हुए कई व्यक्ति महा पुरुप वने हैं। जैन ग्रन्थो मे हरि केशी का वृत्तान्त आता है जो कि एक नीच कुल में उत्पन्न हुआ था। वह अपने शुभ गुणों वा क्रियाओं के फलस्वरूप भगवान् महावीर का शिष्य वना और उसने 'महा मुनि' का पद प्राप्त किया और इसी लिये आज तक उनका नाम वडे गौरव से लिया जाता है और वह सव के पूज्य समझे जाते हैं। आज कल छुआ छूत तो इस संसार का लौकिक व्यवहार वन गया है और वह इस लिये कि निम्न श्रेणी का कार्य करने वालों के प्रति घृणा प्रकट की जाती है और इसके विपरीत अच्छे कुल मे पैदा हुए एक दुराचारी को भी मान्य समझा जाता है।

प्रश्न हो सकता है कि नीच कार्य क्या हैं और उत्कृष्ट कार्य क्या हैं ? इसका उत्तर स्पष्ट है—अर्थात् जहाँ नीति और न्याय का गला घोंटा जाता हो तथा सत्य, दया, समभाव आदि सद्गुणों से दूर रहकर दूसरों के प्रति कष्ट दायक और अधर्म तथा अन्याय पूर्ण आचरण किया जाता हो, उसे नीच कार्य समझना चाहिए। और इसके विपरीत जिस कार्य मे सत्य तथा सदाचार का पालन होता हो, धर्म तथा विवेक का वास रहता हो, नीति और न्याय का भान रहता हो वह उत्तम कर्म है।

किन्तु अत्यन्त शोक का विषय है कि आज के स्वार्थी तथा भौतिक वाद के पुजारी मानव ने नीच और उत्तम कार्य की व्याख्या को विकृत कर दिया है। उस के रूप को बदल डाला है। जो लोग समाज की सेवा करने वाले हैं, सत्य और धर्म का आचरण करते हैं, आत्मा परमात्मा पर विश्वास और श्रद्धा रखते हैं उनको शूद्र के नाम से पुकारा जाता है और उन्हें नीच समझा जाता है। आज के मानव की यह कितनी ना समझी है। सब से आवश्यक कार्य करने वाले को नीच कहा जाता है।

जिस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण बने थे तो इस दृष्टिकोण से नहीं बने थे कि ब्राह्मण सर्वोच्च है तथा शूद्र अछूत है। यह तो समाज की सुविधा के लिये और संसारी धंधों को ठीक प्रकार से चलाने के लिये भिन्न-भिन्न विभाग बनाये गये थे। ताकि इससे समाज की सुन्दर व्यवस्था रह सके और समाज का प्रत्येक व्यक्ति सुखी रह सके।

किन्तु स्वार्थ ने धीरे-धीरे इस वर्ण व्यवस्था का वास्तविक उद्देश्य भुला दिया और ब्राह्मण अपने आपको सर्वोच्च मानने लगा। शूद्रों को विनम्र होने के कारण नीच समझा गया।

यदि धर्म के सिद्धान्तों को ध्यान में रख कर वास्तविक परिस्थिति को देखा जाए,(तो सेवा करने वाले शूद्र सर्वोच्च हैं और मुफ्त का अर्थात् हराम का माल बिना परिश्रम किये खाने वाले नीच हैं।) धर्म शास्त्रों में स्पष्ट रीति से बताया गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र यह जो नाम दिये गये हैं वह छोटे-बडे या ऊँच-नीच के समर्थक नहीं हैं, अपितु वह तो उनके कार्यों के दिग्दर्शक तथा:परिचायिक हैं। पठन पाठन और ब्रह्मचर्य की आराधना करने वाले को ब्राह्मण कहते हैं। इस प्रकार सेवा जैसे पवित्र और लोक कल्याणकारी धर्म को ग्रहण करने वाले शूद्र कहलाते हैं। यदि हम शूद्र का अर्थ क्षुद्र, ओछा तथा नीच लेते हैं तो हम जैन दर्शन से अनभिज्ञ हैं। क्योंकि भगवान् महावीर ने अपने पुनीत प्रवचन मे स्पष्ट रूप से फरमाया है कि "कम्मुणा बम्भणो होई, कम्मुणा होइ खत्तिओ। वईसो कम्मुणा होई, सुद्दो हवई कम्मुणा (उ० २५–३३) अर्थात् कर्मों से ही ब्राह्मण होता है, कर्मों से ही क्षत्रिय होता है, कर्मों से ही वैश्य होता है और कर्मों से ही शूद्र होता है। जो जैसा कार्य करेगा, वह वैसा ही कहा जाएगा। यदि ब्राह्मण होकर नीच कार्य अर्थात् अधर्म और अन्याय पूर्ण कार्य करता है तो वह नीच है। केवल ब्राह्मण कुल में जन्म लेने मात्र से वह ऊँच और पवित्र नहीं हो सकता प्रत्युत एक मनुष्य को नीचे कहे जाने वाले कुल मे जन्म लेकर भी न्याय युक्त और धर्मानुकूल आचरण करने वाला है तो वह सच्चे अर्थ में ऊँच है, पूज्य है, और आदरणीय है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमारे सम्मुख भगवान ने हरिकेशी मुनि को रखा है जो चण्डाल कहे जाने वाले कुल मे जनमे, किन्तु अपने शुद्धाचरण से उन्होंने अपने आपको वन्दनीय और पूजनीय बना लिया।

फिर आपने कहा कि हिन्दू शास्त्रों के कथनानुसार वाल्मीक

मुनि नीच जाति के हुये हैं। हीन जाति में जन्म लेकर भी वह मुनि बने और संस्कृत काव्य में रामायण जैसे उत्तम ग्रंथ की रचना की। उनके विषय में कहा है कि—

चाण्डाली गर्भ सम्भूतो बालमीको महा मुनिः।
क्रियायां ब्राह्मणो जातः तस्माज्जातिरकारणम्॥

अर्थात्—वाल्मीक मुनि चाण्डाली के गर्भ से उत्पन्न हुए किन्तु क्रिया उनकी ब्राह्मण वृत्ति को पहुँचती थी इसलिये जाति धर्म का कारण नहीं है।

एवं वेद व्यास जो सारे पुराणों के रचयिता कहे जाते हैं एक मल्लाहिनी के गर्भ से उत्पन्न हुये थे। एक संस्कृत कवि कहता है कि—

शूद्रोऽपि शील सम्पन्नो गुणवान् ब्राह्मणो मत।
ब्राह्मणोऽपि क्रिया हीनः शूद्रादधर्मी भवेत्॥

अर्थात्—जो शूद्र शील अर्थान् शुद्धाचरण से सुशोभित हो उसको गुणवान ब्राह्मण माना है और यदि ब्राह्मण गुणहीन हो तो वह शूद्र से भी बढ़कर अधर्मी होता है।

एक और पण्डित लिखते है कि—

शीलं प्रधानं नकुलं प्रधानं, कुलेन किं शील विवर्जितेन।
बहवो नराः नीच कुल प्रसूताः, स्वर्ग गताः शीलमुपेत्य धीरा॥

अर्थात्—शिष्टाचार ही प्रधान है। कुल की प्रधानता नहीं। यदि शुद्धाचरण नहीं है तो अच्छा कुल क्या कर सकता है। बहुत से पुरुष नीच कुल में उत्पन्न हुये, श्रेष्टाचार का पालन किया और वे धैर्य्यवान महात्मा स्वर्गलोक को प्राप्त हुए।

अतः यह निर्विवाद सत्य है कि ऊँच और नीच अच्छे और बुरे कार्यों के अनुसार ही होते हैं, जन्म या कुल से नहीं। सदाचरण करने वाला ही ऊँच है। और अधर्म पर चलने वाला, अन्याय करने वाला तथा कुमार्गगामी ही अधम और नीच है।

अन्त में आपने उपस्थित जनता को सम्बोधन करते हुए बड़ी ओज युक्त वाणी मे कहा—कि हे संसार के निवासियो ! तुम गुण के पूजक बनो, नाम के नहीं। यह सिद्धान्त भगवान् महावीर स्वामी की इस ससार को परम पुनीत देन है।

हमारी इस घृणा करने की कुप्रथा ने हमारे सहस्रों भाइयों को यवन और ईसाई मतो की शरण मे जाने के लिए बाधित किया। आज जो करोड़ो यवन तथा ईसाई इस देश मे दिखाई दे रहे हैं और जो हमारी सनातन सभ्यता के शत्रु बने बैठे हैं वे सब हमने ही अपनी मूर्खता से बनाये है। यदि हम भगवान् महावीर स्वामी के प्रवचन पर श्रद्धा रखते हुए उसका अनुसरण करके सब को प्रेम की दृष्टि से देखें तो हमारे देश का अनिष्ट न हो। हमारी संस्कृति और सभ्यता स्थिर रहे और इस आर्य देश के रहने वाले सभी आर्य ही रहे। जो मनुष्य ठोकर खाकर भी नहीं सँभलता उनसे बढ़ कर अज्ञानी और कौन हो सकता है। इसलिये हमें तत्काल सँभल कर वही मार्ग धारण करना चाहिए जिससे हमारी पुन क्षति न हो और हमारी मातृ-भूमि दुखित न हो।

"चार कषाय"

एक दिन महाराज श्री ने चारों कषायों की व्याख्या की और उन के भेद बताए। साथ ही उनसे होने वाली हानियो का भी वर्णन किया। आपने कहा कि कषाय चार हैं अर्थात् (१) क्रोध (२) मान (३) माया (४) लोभ, यह चारों कषाय ही इस ससार के मूल का सिञ्चन करने वाले हैं। इन के मन्द प्रभाव से जीव को इस संसार के तथा परलोक के अनेक दु ख उत्पन्न होते हैं। क्रोध से प्रीति तथा प्रेम का नाश होता है। मान नम्रता तथा विनीत भाव को नष्ट करता है। माया मित्रता का अवसान कर देती है। लोभ उपर्युक्त प्रीति,

विनय और मित्रता सभी को नष्ट करने वाला है। जब तक मनुष्य इन चारों कषायों से निवृत्त नहीं होता, तब तक राग, द्वेष के चुंगुल से बाहर नहीं निकल सकता। राग और द्वेष जीव के जन्म और मरण का कारण बनते हैं।

तब आपने कहा कि जिन जीवों को इन चारों कषायों को दूर करने की भावना उत्पन्न हो, उन्हें उचित है कि वे भगवान् महावीर के बतलाए हुए उपायों से काम लें। उन्होंने बताया है कि क्रोध को शान्ति और क्षमा के द्वारा निष्फल करके दमन करना चाहिए। मान पर विजय प्राप्त करने के लिये मृदुता तथा कोमल वृत्ति का धारण करना आवश्यक है। माया का मर्दन करने के निमित्त ऋजुता अर्थात् सरल भाव का ग्रहण करना इच्छित फल का देने वाला होता है। लोभ रूपी शत्रु को सन्तोष रूपी शस्त्र से परास्त करना चाहिए। तत् पश्चात् महाराज श्री ने इन चारों कषायों की भिन्न-भिन्न व्याख्या की। (१) क्रोध—जिस मनुष्य के मन में क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो जाए, उसे अपने कृत्य-अकृत्य का कुछ विवेक नहीं रहता। क्रोधवश जीव में सहनशीलता नाम मात्र को भी नहीं होती। वह हर समय दुःखी रहता है, बिना विचार किए अपना तथा पराया अनिष्ट करता है। शास्त्र कहता है—

✓ क्रोधो मूलमनर्थाना, क्रोधः संसार बन्धनम्।
धर्मक्षयकरः क्रोधस्तस्मात् क्रोधं विवर्जयेत्॥

अर्थात्-क्रोध सारे अनर्थों की जड़ है, क्रोध ही संसार में बन्धन रूप है। यही क्रोध धर्म का नाश करता है, इसलिये क्रोध को अवश्य ही दूर करना चाहिए।

क्रोधी मनुष्य मानो एक जलती ज्वाला होती है, इसके समीप जाना ही दुःख का कारण बनता है। इसलिये सिख शास्त्र मे लिखा है "ओहनां पास द्वास न भिटिये, जिन अनन्तर

क्रोध चण्डाल," श्री राग महल्ला ४" अर्थात्-जिनके अन्दर चाण्डाल क्रोध निवास करता है उनके निकटस्थ ही न जाना चाहिए।

अरवी भाषा मे एक लोकोक्ति है जिसका तात्पर्य यह है कि क्रोध करने वाला मनुष्य पहले पागल बनता है और पीछे लज्जित होता है।

ईसाई मत की धर्म पुस्तक इंजील में लिखा है। Make no faiendship with an ahgry man and with a furi ous man thou shalt not go prob 22·24) अर्थात् क्रोधित पुरुष के साथ कभी मित्रता मत रखो। और उत्तेजित पुरुष के निकट मत जाओ।

क्रोध विष से भी अधिक हानि प्रद वस्तु है, इसी लिये एक हिन्दी कवि लिखता है—

कालकूट अरु क्रोध मे, वडो अंतरो आहि।
वह न छुहे निज आसरे, यह निज आसरे देत जलाय॥

अर्थात्—विष और क्रोध मे वड़ा अन्तर यही है कि विष जिस पात्र मे रखा होता है उसकी कुछ हानि नहीं करता, किन्तु इसके विपरीत क्रोध जिस हृदय मे स्थित हो, पहले उसी का दहन करता है।

एक और शास्त्र मे लिखा है—

क्रोधो हि शत्रु प्रथमो नराणां, देहस्थितो देहविनाशनाय।
यथा स्थित. काष्ठगतोहि वन्हि', स एव वन्हि दहते च काष्टम्॥

अर्थात्—मनुष्य का पहला शत्रु क्रोध ही है, जो शरीर के अन्दर ठहर कर शरीर को भस्म करता है। जिस प्रकार लकड़ी में रहने वाली अग्नि ही लकड़ी को भस्म कर देती है। इस प्रकार क्रोधी पुरुष के हृदय को क्रोधाग्नि ही दग्ध करती है।

तब महाराज श्री ने बताया कि जैन सूत्रों में क्रोध के चार भेद बतलाए हैं (१) एक क्रोध ऐसा होता है कि जैसे पर्वत के फटने पर जो द्राड़ होती है उसका मिलना असम्भव ही होता है, वैसा ही वह क्रोध भी चिरस्थायी होता है। इस प्रकार का क्रोध धारण करने वाले महा अज्ञानी और मूर्ख होते हैं और वह सुख और शान्ति से सदैव दूर रहते हैं (२) दूसरी प्रकार के क्रोध को उस द्राड़ से उपमा दी गई है जो मूखे तालाब आदि में मिट्टी के फट जाने पर पड़ जाती है, और वह तभी बन्द होती है कि जब पुनः वर्षा हो। एवं इस प्रकार का क्रोध दूर तो होता है किन्तु बड़ी देर में दूर होता है। (३) तीसरी प्रकार का क्रोध ऐसा होता है जैसे वायु के चलने पर बालू में लकीर पड जाती है और थोड़े समय के पश्चात् पुनः वायु चलने पर बन्द हो जाती है, ऐसे ही यह क्रोध स्वल्प विचार अथवा उपाय से शान्त हो जाता है। (४) चौथी प्रकार का क्रोध पानी मे खींची हुई लकीर के समान होता है—अर्थात जैसे वह लकीर खींचने के साथ ही बन्द हो जाती है, वैसे ही यह क्रोध तुरन्त ही दूर हो जाता है। इस प्रकार का क्रोध सज्जन पुरुषों का होता है, और वह इसे करते भी परहित के लिये है। जैसे माता पिता अपनी सन्तान के सुधार के निमित्त या जैसे एक गुरु अपने शिष्य के शिक्षण तथा अध्यापन के लिये करता है।

(२) मान—इसके पश्चात् श्री ऋषिराजजी महाराज ने मान या अहंकार की हानियाँ बतलाईं। मान अथवा अहंकार बुद्धि को आच्छादित कर देता है। मान वश जीव को किसी के प्रति आदर भाव नहीं होता। मानी जीव अपने आपको दूसरों से बड़ा समझता है। और दूसरों को तुच्छ जानता हुआ उनकी अवहेलना करता है। गर्व वश व्यक्ति दूसरे के

गुणों को सहन नहीं कर सकता। घमंडी पुरुष ढोल के सदृश होता है अर्थात् वह अन्दर से थोथा होता है। इसी लिये शास्त्र कहता है—

सपूर्ण कुम्भो न करोति शब्दमर्धो घटो घोपमुपैति नूनम्।
विद्वान् कुलीनो न करोति गर्वं गुणैर्विहीन: बहु जल्पयन्ति ॥

अर्थात्—भरा हुआ घडा शब्द नहीं करता, अधभरा घड़ा ही बोलता है, एवं कुलीन विद्वान् अभिमान नहीं करते। गुण-हीन पुरुष ही व्यर्थ प्रलाप करते हैं।

मान भी एक प्रकार की अग्नि ही है, जो कण्टक के समान मनुष्य के हृदय को दु खी करती है। इसी लिये कबीरजी ने कहा है।

मैं मैं बड़ी बलाय है, सके तो निकसो भाग।
कहे कबीर कब लग रहे, रूई लपेटी आग ॥

मनुष्य का अभिमान करना व्यर्थ है। उसे तो एक क्षुद्र तृण भी पीडित कर सकता है। एक कवि ने लिखा है—

मैं घमडों मे भरा ऐंठा हुआ,
एक दिन जब था मडेरे पर खडा।
आ अचानक दूर से उड़ता हुआ,
एक तिनका आँख में मेरी पडा ॥
मैं झिझक उठा हुआ बेचैन सा,
लाल हो कर आँख भी दुखने लगी।
आगई निकटस्थ मेरे बहिन भाई और सगे।
मूँठ देने लोग कपड़े की लगे,
ऐंठ बेचारी दबे पांव दबी।
सुप्त मेरी भावना थी तब जगी।
जब किसी ढप से निकल तिनका गया,
तब मुझे बुद्धि ने यों शिक्षण दिया।

ऐंठता तू किस लिये इतना रहा,
क्यों घमण्डों मे था इतना तू पड़ा।
एक तिनका है बहुत तेरे लिये,
गेंठ अब तू छोड़ दे जब तक जिये।

(३) माया—आपने कहा कि माया का अर्थ है मन, वचन तथा काया की कुटिलता। मनुष्य उस कुटिलता के द्वारा पर-वंचना अर्थात् दूसरे के साथ कपटाई, ठगाई और धोखा करता है। उसके मन में कुछ और होता है और जिह्वा द्वारा प्रकट कुछ और करता है।

माया के भी चार भेद है। माया का दूसरा नाम टेढ़ापन है। एक टेढ़ा ऐसा होता है जो किसी भी उपाय से दूर-नहीं हो सकता, जैसे बाँस वृक्ष की कठोर जड़। उसी प्रकार कई दुष्ट मायावी पुरुषों के हृदय में टेढ़ापन रहता है। इससे उतर कर दूसरे प्रकार का टेढ़ापन वैसा होता है जैसे मेंढे के सींग जो कि अत्यन्त परिश्रम और अनेक उपाय करने पर अत्यन्त कठिनता से सीधे होते हैं। एवं दूसरी प्रकार की माया अतीव प्रयत्न से दूर की जा सकती है। तीसरी प्रकार के टेढेपन को चलते हुए बैल के मूत्र से उपमा दी गई है अर्थात् वह टेढ़ी लकीर सूख जाने पर पवनादि से मिट जाती है। उसी प्रकार तीसरे दर्जे की माया सरलता पूर्वक स्वल्प प्रयत्न से दूर हो जाती है। चौथी प्रकार का टेढापन वैसा होता है जैसा छीले जाते हुए बाँस के छिलके का, जो बिना प्रयत्न के सहज ही मिट जाता है। इसी प्रकार यदि दुर्भाग्य वश भले पुरुष किसी समय विवश होकर माया को धारण करते हैं तो वह तुरन्त ही उसकी हानियों पर ध्यान करके उसका परित्याग कर देते हैं।

(४) लोभ—लोभ की व्याख्या करते हुए आपने कहा कि लोभ को सब पापों का बाप कहा गया है।

लोभ वश पुरुष घृणित से घृणित क्रियाएँ करता है और उसके दुष्परिणाम को भोगता है। शास्त्रों ने लोभ को अति-अधम बताया है और कहा है कि—

"लोभ मूलानि पापानि"

अर्थात् लोभ सारे पापों का मूल है। लोभी मनुष्य अत्यन्त असन्तोषी होता है, इसी लिये कहा भी है कि—

✓ कबीर औंधी खोपरी कबहुँ धापे नाहीं,
तीन लोक की सम्पदा, कत आवे घर माहीं।

सिख शास्त्र कहता है कि—

ज्यों कूकर हरकाया, धावै दहि दिस जाय,
लोभी जन्त न जानहि भक्ख अभक्ख सभ खाय।

(श्री राग महल्ला ५)

अर्थात्—जैसे बॉवला कुत्ता दसों दिशाओं में भागता है और शान्ति नहीं पाता, वैसे ही लोभी जीव भक्ष अभक्ष का कुछ विचार नहीं करता। फिर भी उसे तृप्ति नहीं होती। ईसाई शास्त्र भी कहता है कि तुम ध्यान रखो और प्रभु से प्रार्थना करो कि तुम प्रलोभनों में न पड़ो।

लोभ भी चार प्रकार का होता है एक किरमची रंग जैसा, जो कभी भी नहीं छूटता। दूसरा गाडी के पहिये से निकलने वाली कालिमा के समान होता है जो अति कष्ट से छूटता है। तीसरा दीपक के काजल के तुल्य है जो साधारण परिश्रम से छूट जाता है। और चौथा हलदी के रंग के सदृश सहज ही में दूर हो जाता है।

अपने भाषण को समाप्त करते हुए महाराज श्री ने कहा कि जो मनुष्य अपने कल्याण के अभिलाषी हैं—उन्हें उचित

है कि शास्त्रोक्त उपायों द्वारा चारों कषायों को मटियामेट कर दें। जब तक यह कषाय मनुष्य को घेरे रखते हैं उस समय तक उसके कल्याण की कोई आशा नहीं हो सकती क्योंकि इन से राग और द्वेष की उत्पत्ति होती है और राग द्वेष पाप कर्मों के कराने वाले होते हैं उनसे मनुष्य का कर्म बन्धन और भी सुदृढ़ बनता है जिसके कारण वह जन्म मरण के चक्र में पड़ा रहता है। इसलिये महाराज श्री ने फरमाया कि आज से ही तुम इन कषाय रूपी चारों शत्रुओं को परास्त करने के लिये उद्यत हो जाओ और उन पर विजय प्राप्त करने के लिये भगवान महावीर स्वामी के कथित साधनों का प्रयोग करो।

विविध प्रकार के मनुष्य

एक दिन महाराज श्री ने मनुष्यों के भेद अपने व्याख्यान में वर्णन किये। उन्होंने बतलाया कि संसार में यद्यपि सब मनुष्यों के नाक, कान, हाथ, पैर इत्यादि शरीर के अंग एक समान होते हैं, किन्तु उनकी प्रकृति भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। आपने बताया कि ठाणांग सूत्र के चौथे उद्देशे में मनुष्यों के भेद कहे गये हैं। उपर्युक्त आगम के सूत्र ३६० में कुम्भ की उपमा देकर चार प्रकार के मनुष्य बताये गये हैं। एक उस कुम्भ के समान होते हैं कि-जिसकी रचना भी सुन्दर हो और उसके अन्दर में दुग्ध अथवा अमृत भरा हुआ हो जो मनुष्य इस कुम्भ के समान होते हैं उनका हृदय निष्पाप, उनका स्वभाव कोमल, वाणी मधुर होती है और उनका बाहरी शरीर भी बलिष्ठ तथा सौन्दर्य युक्त होता है। दूसरे कुम्भ के समान वे पुरुष होते हैं जो सुन्दर आकृति वाले तो होते हैं किन्तु उनका हृदय मलिन और मन अपवित्र तथा

स्वभाव क्रूर और वाणी कठोर होती है अर्थात्–इनसे उपमा दिया गया वह कुम्भ होता है जिसकी रचना सुन्दर किन्तु उसके अन्दर विप भरा हुआ हो। तीसरे ऐसे कुम्भ होते है–जिनकी आकृति असुन्दर, किन्तु उनके अन्दर मधु या शर्वत भरा हुआ है ऐसे ही तीसरी प्रकार के पुरुष वे होते है जिनकी आकृति भद्दी, रंग रूप बुरा होता है किन्तु उनका अन्त करण निर्मल और उनकी प्रकृति सराहनीय होती है। वे सबका हित चाहने वाले और सबसे प्रेम करने वाले होते है। चौथी प्रकार के कुम्भ वे होते हैं जिनकी बाहरी बनावट भी भद्दी और उनके अन्दर भी मल भरा होता है। ऐसे ही कई मनुष्य ऐसे होते है जो देखने मे भी कुरूप और उनका अन्तस्थल भी अति मलीन होता है। ये चार प्रकार के मनुष्य संसार मे होते है।

इतना कह कर आपने फरमाया–कि जो मनुष्य बाहर से भी रूपयुक्त हों और उनकी आन्तरिक भावनाएँ भी शुद्ध हों वे तो बडे भाग्यशाली होते है। किन्तु सुन्दर स्वरूप का प्राप्त होना अपने वश की बात नहीं है। हाँ मनुष्य अपनी प्रकृति को सुन्दर बना सकता है। अपने स्वभाव को शीतल और अपनी क्रियाओ को शुद्ध बना सकता है। इसलिए मनुष्य को उचित है कि राग, द्वेप इत्यादि अवगुणो को निवारण करके आत्मा के मैल को दूर करे। आन्तरिक शुद्धि की प्राप्ति करे।

फिर महाराज श्री ने कहा कि उसी ठाणाङ्ग सूत्र मे पुष्प को उपमा देकर चार प्रकार के मनुष्य कहे गये है। एक तो वह पुष्प होते है जो देखने मे सुन्दर किन्तु सुगन्धि हीन होते हैं। दूसरे सुगधि युक्त होते है किन्तु सुन्दर नहीं होते। तीसरे सुगन्ध और रूप दोनो से युक्त होते है। और चौथी प्रकार के फूल गन्ध और रूप दोनों से विहीन होते है। एवं प्रकार एक

पुरुष रूप सम्पन्न होते हैं परन्तु शील सम्पन्न नहीं। दूसरे शील सम्पन्न होते हैं परन्तु रूप सम्पन्न नहीं। तीसरे पुरुष रूप और शील दोनों से ही सम्पन्न होते हैं। और चौथे रूप और शील दोनों से रहित होते हैं।

इसकी व्याख्या करते हुए श्री ऋषिराजजी महाराज ने कहा कि-शील विहीन पुरुष मानव कहलाने का अधिकारी ही नहीं होता। वह तो पशुओं से भी हीन होता है। शीलयुक्त पुरुष ही इस लोक में सुख और आदर पाता है और परलोक मे कल्याण का भागी बनता है। इसलिये शील सम्पन्न होना ही मनुष्य का सर्व प्रथम कर्तव्य है। शीलहीन पुरुष को कोई मित्र नहीं बनाता और न उसका कोई विश्वास करता है।

इसके पश्चात् आप श्री जी ने उपर्युक्त सूत्र मे कथित मेघ की उपमा देते हुए चार प्रकार के मनुष्य बताये। आपने कहा कि एक तो ऐसे मेघ होते हैं जो गर्जते हैं पर बरसते नही, कोई गर्जते नहीं किन्तु बरसते है, कोई गर्जते भी है और बरसते भी है और चौथी प्रकार के ऐसे मेघ होते हैं जो न गर्जते है और न बरसते है। एवं प्रकार कोई पुरुष तो दान, ज्ञान, व्याख्यान और अनुष्ठान आदि की कोरी बातें करते है किन्तु क्रियारूप मे कुछ नहीं करते। वे गरज कर न बरसने वाले मेघ के समान होते है। दूसरे पुरुष उक्त कार्यों के सम्बन्ध मे अपनी बड़ाई तो कुछ नहीं करते परन्तु कार्य करने वाले होते है अर्थात् गर्जते नही बरसते है। तीसरी प्रकार के पुरुष इन कार्यों के विषय मे डींग भी हॉकते हैं और कार्य भी करते है अर्थात् गरजते भी है बरसते भी हैं। चौथे पुरुष न ही इन कार्यों सम्बन्धी कोई प्रलाप करते है और न ही कुछ कार्य करते है अर्थात् न गरजते है और न बरसते है।

इसी प्रकार और कई उपमाएँ देकर श्री ऋषिराज जी महाराज ने भेद बताए। एक शास्त्र में लिखा है कि—

नन्दन्ति मन्दा श्रियमाप्य नित्यं, परं विषीदन्ति विपद्गृहीता ।
विवेक दृष्ट्या चरतां नराणां श्रियो न किञ्चिद् विपदो न किञ्चित्॥

अर्थात्—मन्द बुद्धि लोग धन पाकर फूले नहीं समाते और दुःख मे बहुत दुःखी होते हैं। परन्तु विवेक युक्त लोगों को न धन से कुछ प्रयोजन होता है, न कष्ट से।

मनुष्य की अन्तरीय दशा उसके बोलने पर प्रकट होती है—एक हिन्दी कवि कहता है—

एक ठौर हों सुजन खल, तजे न अपना रंग।
मणि विष हर, विष कर सर्प, सदा रहित इक संग॥
सुजन वचन दुर्जन वचन, अन्तर बहुत लखाय ।
वह सब को नीको लगे, वह काहु न सुहाय॥

अर्थात—सज्जन और दुर्जन एक स्थान पर रहते हुए भी अपने अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते, जैसे साप और साप की मणि सदैव एकत्रित रहते हैं किन्तु सर्प तो विष को उत्पन्न करता है और मणि विष का हरण करती है। भले पुरुषों और दुष्टों की वाणी मे बड़ा अन्तर होता है। भलों का बोलना सब को सुखद होता है और बुरों का बुरा लगता है

इस प्रकार मनुष्यो मे और भेद बतलाते हुए महाराज श्री ने सुन्दर कवि का कथन बतायाऔर कहा कि—

हंस श्वेत बक श्वेत, देखिए समान दोऊ,
हंस मोती चुगे बक मछली को खात है।
पिक और काक दोऊ, कैसे करि जाने जाएँ,
पिक अम्ब डार, काक मल ओर जात है।

अर्थात-राज हंस और बगुला दोनो ही श्वेत वर्ण के होते हैं किन्तु हंस तो मोती चुगता है और बगुला गन्दी मछली

खाता है। कोयल और कौआ दोनों काले रंग के होते हैं किन्तु कोयल तो आम की डाली पर बैठती है और कौआ मैल की तरफ़ भागता है।

अन्त में महाराज श्री ने फूल और कांटे की तुलना करते हुए कहा कि—

है जनम लेते जगह मे एक ही,
एक ही पौधा उन्हे है पालता।
रात मे उन पर चमकता चन्द्र भी,
एक सी ही चान्दनी है डालता।
मेघ उन पर है बरसता एक सा,
एक सी उन पर हवाएँ भी वही।
पर सदा ही है दिखाता यह हमे,
ढंग उन के एक से होते नहीं।
एक का दर्जा कहीं है दूसरे का है कहीं,
छेद कर कांटा किसी की उंगलियाँ,
फाड देता है किसी का वर वसन।
प्यार डूबी तितलियों के पर क़ुतर,
भौंर का है वींध देता श्याम तन।
फूल लेकर तितलियों को गोद मे,
भौंर को अपना अनूठा रस पिला।
निज सुगन्धों और निराले रंग से,
है सदा देता कली का जी खिला।
है खटकता एक सब की आँख में,
दूसरा है सोहता सिर सीस पर।
किस तरह से उसको चाँपे लाभ हो,
जो किसी में हो जनम से ही कसर।

अपना भाषण समाप्त करते हुए महाराज श्री ने कहा कि

ऐ संसारी मनुष्यो ! तुम फूल जैसे वनो और शुद्धाचार की सुगन्ध से दूसरों के हृदयों को सुख दो। कॉटे के तुल्य वनकर औरों को कष्ट और दुःख देने वाले न वनो। फूल की ओर लोग रुचि पूर्वक जाते है और कॉटे से दूर भागते है। एवं प्रकार क्रूर प्रकृति वाले मनुष्य के समीप जाने से लोग संकोच करते है और पुष्पवत् मधुर और सौम्य प्रकृति वाले मनुष्य की सुसंगत के अभिलाषी होते है अतः तुम फूल वनो कॉटा नहीं।

उन लोगों की जीवनियों पर ध्यान करो जो संसार मे कॉटा वन कर रहे है या जो फूल वन कर रहे है और फिर उनकी तुलना करके देखो कि किन्होंने स्वयं सुख पाया है और दूसरों को सुख दिया है। विचार पूर्वक देखने से ही विदित होगा कि पुष्पवत् जीवन वाले ही यहॉ पर सुखी रहे है और दूसरो को भी सुख पहुँचाया है इसलिये हमे भी अपना जीवन पुष्प के समान सुन्दर, सौरभ युक्त और सुखद वनाना चाहिये।

आधुनिक नारी

एक दिन श्री ऋषिराज जी महाराज ने स्त्री जाति के सम्बन्ध मे भाषण देते हुए कहा कि प्रायः कहा जाता है कि जैन धर्म स्त्री जाति की अवहेलना करता है। इसमें कुछ तथ्य नहीं है। यह ठीक है कि साधु संघ के लिये शास्त्र की आज्ञा यही है कि वह अपने संयम व्रत को पूर्णरूपेण पालन करने के लिये स्त्रियों से दूर रहें, उनका स्पर्श न करे। अन्यथा गृहस्थ में नारी को उतना ही उच्च स्थान जैन धर्म देता है जितना कि कोई और अन्य संस्कृति दे सकती है। हॉ, जैन धर्म यह अवश्य कहता है कि स्त्री को विलास की सामग्री नहीं समझना चाहिए। माता रूप से नारी करुणा की मूर्ति है। दया,

क्षमा, त्याग, तितिक्षा एवं सेवा भावना की वह साक्षात् प्रतिमा है। वह अपने असाधारण गुणों एवं दिव्य कर्मों के द्वारा अपनी सन्तान का उद्धार करती है और अपनी दया भावना से अधमता को उत्तमता में, राक्षसत्व को देवत्व मे, बर्बरता को सभ्यता में एवं पाप को पुण्य में परिवर्तित करने का भार उसी पर है। जैसे सूर्य का पूरक चन्द्र है, इसी प्रकार गृहस्थ में पुरुष की पूरक स्त्री है। गृहस्थ मे यह एक दूसरे की कमी को पूरा करने वाले है, परस्पर सहायक हैं। एक गृहस्थ पुरुष श्रान्त क्लान्त होकर नारी के मातृ अंचल की सुखमय छाया में ही शान्ति एवं विश्राम उपलब्ध करता है। मातृशक्ति अर्थात्-नारीतत्त्व स्वभाव से ही प्रेम रूप है उसमे अचल विश्वास एवं अडिग श्रद्धा ओत प्रोत है। उसमें उच्चतम कोटि के समर्पण का भाव विद्यमान होता है। मातृशक्ति के मगलमय तथा स्नेह-मय क्रोड़ मे ही अवतारों तथा तीर्थङ्कर भगवानों ने जन्म लिया है, इसलिये वह सब की आदर की पात्र है। इसी विचार से कबीर जी ने कहा है—

> नारी निन्दा मत करो नारी नर की खान,
> नारी ही ते ऊपजे ध्रुव प्रह्लाद समान।

हमारी सभ्यता की महानता दो बातो से है अर्थात्-त्याग और तपस्या। स्त्री इन दोनों गुणों की मूर्ति है। बाल्यकाल मे उसका जीवन बहन और बेटी के रूप मे तपोमय होता है और विवाह के पश्चात् पत्नी और माता के रूप मे उसका जीवन त्यागमय होता है। इसोलिये एक कवि ने लिखा है—

> नीरसता मे सदा सरसता जो सरसावै,
> प्रेम सहित पय प्याय प्यार करि जो हमे बढ़ावै।
> सेवा प्यार दुलार दया की जो है मूर्ति
> पालन, पोषण, सृजन करत होवै हर्षित अति।

जननी, भगिनी, कामिनी, यह रूपिनी में देउ गुन,
अस नारी निन्दा करें ते खल पावें नरक दुःख।

इसलिये यह एक भ्रम है कि जैन धर्म नारी जाति की निन्दा करता है। हाँ, जैसे कि पूर्व कहा गया है, साधु संघ को नारी संग के दोष जतलाते हुए नारी स्वभाव की चंचलता इत्यादि का वर्णन किया गया है। यदि जैन धर्म स्त्री जाति को आदर देने का विरोधी होता, तो वह यह कभी न कहता कि स्त्रियाँ भी सिद्धावस्था को प्राप्त कर सकती हैं। किसी और धर्म में स्त्री रूप में ईश्वर अवतार नहीं माना गया किन्तु जैन धर्म का यह मन्तव्य है कि स्त्रियाँ भी श्रामण्य धर्म का पालन करने से आत्मा से परमात्मा बन सकती हैं। जैन धर्म के उन्नीसवें तीर्थङ्कर भगवान मल्लिनाथ जी तो स्त्री रूप में ही थे। और जैन धर्म में सोलह सतियाँ मानी गई हैं जिनको नित्य प्रार्थना में वन्दना की जाती है। जैन धर्म के चतुर्विध संघ में साध्वियों को वही सन्मान दिया जाता है जो जैन साधुओं को दिया जाता है। इससे यह आक्षेप निरर्थक ठहरता है कि जैन धर्म नारियों को निन्दित जीव समझता है।

इतना कह कर आप श्री जी ने कहा कि यह बताना आवश्यक है कि आधुनिक नारी ठीक मार्ग पर नहीं चल रही है। जिस ओर देखो उस ओर आज नारी स्वाधीनता, नारी स्वातन्त्र्य, नारी अधिकार तथा नारी स्थिति का झगड़ा है। शिक्षित देवियाँ प्रायः यही कहती हैं कि शताब्दियों से पुरुष ने स्त्री जाति को अपने पैरों तले कुचला है, उन पर मन माने अत्याचार किये हैं और उन्हें अपने मनोरंजन की सामग्री बनाये रखा है। स्त्रियाँ कहती हैं कि यह सब कुछ वे चुपचाप सहती रहीं क्योंकि वे मूर्खा तथा अशिक्षिता थीं। परन्तु आज जब कि वे शिक्षित हो गई हैं तब क्यों पुरुष की दासता

स्वीकार करे ? इन्ही विचारों के कारण स्त्री गृह की चार दीवारी के वातावरण के बाहर निकल कर स्वतन्त्रता के वायु मंडल में पहुँचने की चेष्टा करने लगी हैं तो उसका परिणाम यह हुआ कि वह स्त्री धर्म की सीमा को पार कर गई अर्थात्–वह अपने समस्त सद्गुण अर्थात्–मृदुता, प्यार, सेवा और सहानुभूति जैसे अमूल्य गुण नष्ट कर बैठी। जिन गुणों के कारण वह मानव जाति का संस्कार करती थी, सन्तान को उत्तम शिक्षा देती थी और पति को सन्मार्ग पर चलाती थी, उन्हीं के अभाव में आज वह अपने विचारों की दृढ़ता और निर्माण शक्ति खो बैठी है। वह अपना माता का पूज्य स्थान नष्ट कर बैठी है। उसके भाव बदल गये हैं। नारी ने आज यह दृढ़ निश्चय कर लिया प्रतीत होता है कि वह स्वतन्त्र होकर रहेगी। परन्तु उसे यह ज्ञान नहीं कि उसकी स्वतन्त्रता का रूप क्या हो और उसकी प्राप्ति के लिये किस पथ का अनुसरण करे ? इन प्रश्नो में वह उलझ गई और प्रयत्न करने पर भी उनको सुलझा नहीं सकी है। अपने आपको इतिहास की शृङ्खलाओं से पृथक कर उसने अपने मन में अहंकार और अभिमान भर लिया है। वह प्राचीनता के नाम से घृणा करती हुई नूतनता की ओर पग बढ़ाने लगी है। भारतीय संस्कृति को उज्ज्वल करने वाली और उसका गौरव बढ़ाने वाली ब्राह्मी-सुन्दरी-राजमति महाराणी सीता, विदुषी अनुसूया, मैत्रीय, गार्गीय, महासती चन्दनबाला तथा अन्य सतियों की ओर से उसने आँखे मूँद ली हैं। प्राचीन नारी की अपेक्षा अपने आपको अधिक विकसित एवं उन्नत करने की उसकी अभिलाषा हुई है। किन्तु क्या वह इसमे सफल हो सकी है ? कदापि नहीं। उसने प्रकृति के साधारण नियमों का उल्लंघन तक किया है किन्तु सब व्यर्थ। प्रत्येक वस्तु का निर्माण करने के

लिये आधार एवं सुदृढ़ नींव की आवश्यकता है। यह आधार पूर्वजों से ही प्राप्त होता है। जिस प्रकार एक लेखक अपने पूर्व लेखकों की रचनाओं का अध्ययन किये बिना नवीन रचना करने में असमर्थ होता है। ठीक उसी प्रकार प्रतिभा पूर्ण आधुनिक नारी प्राचीन आदर्श नारियों के अध्ययन किये बिना अपना पथ प्रशस्त नहीं कर सकती। प्राचीनता की अवहेलना करके उसने जो कुछ पाया है वह स्पष्ट है। वह चली थी स्वतन्त्र होने किन्तु स्वतन्त्रता का अभिप्राय ही न समझ पाई, वह अपनी विचार शक्ति खोकर प्रत्येक बात में पुरुष का अनुकरण करने लगी और उसने शिक्षा, सिनेमा, नाच, मेल, रंगमंच, व्याख्यान सब अपनाए।

उसने प्रत्यक्ष रूप से तो यह निश्चय कर लिया कि वह पुरुषों के मनोरंजन की सामग्री नहीं बनेगी किन्तु उसकी शिक्षा, बातचीत, कार्यकला, वेशभूषा आदि तो उसकी इस कल्पना से सर्वथा विपरीत है। क्या उसके हाव भाव तथा बनाव शृङ्गार और प्रत्येक कथन क्रिया केवल पुरुषों को आकृष्ट करने के लिये नहीं है? उनसे नारी का कौन सा उच्च आदर्श प्रकट होता है। क्या इसी का नाम है स्वातन्त्र्य? युगों से नारी शील और सदाचार की प्रतिष्ठा करती आई है। इतिहास के एक-एक पन्ने से पता चलता है कि हमारी आदर्श नारियाँ कभी पुरुष के मनोरंजन की सामग्री तथा उसके हाथ का खिलौना नहीं बनी थीं। अपने शुद्धाचार के तेज से उन्होंने कामी, विलासी पुरुषों को सन्मार्ग पर ले जाकर बल प्रदान किया था। क्या महाभारत की विजय का श्रेय महारानी कुन्ती को नहीं है? क्या मूर्ख कालिदास को जगत् प्रसिद्ध कवि कालिदास बनाने वाली विद्योत्तमा और लोक प्रिय ग्रन्थ रामचरित मानस की रचना कराने वाली गोस्वामी तुलसी-

दास की धर्मपत्नी रत्नावली भूलने योग्य है ? किन्तु आज उलटी गंगा बहने लगी है । पुरुष को विलासता को रोकने वाली नारी फ़ैशनयुक्त रमणी बन कर कृत्रिम रूप बना कर स्वयं विलासिनी होती जाती है और उसे स्वतन्त्रता का नाम देती है । प्राचीन काल में पुरुष नारी को अपनी वीरता के बल पर आकृष्ट करता था, किन्तु इसके विपरीत आज नारी पुरुष को अपने सौन्दर्य के बल पर अपनी ओर आकृष्ट कर रही है । और इस प्रकार पुरुष की काम वासना में अपने जीवन की आहुती डाल रही है । इसलिये वह स्वय ही पुरुष के मनोरंजन का साधन बन रही है ।

यदि हम थोडी गहराई मे उतर कर विचार करे तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेगे फि आधुनिक नारी अपने आप को समझने मे असमर्थ है । अपने स्वाभाविक गुणो एवं मन की सद्वृत्तियों को भूल कर वह अपना वास्तविक रूप ही खो बैठी है । आधुनिकनारी कृत्रिम रूप धारण करके एक ओर अपना आदर्श खो बैठी और दूसरी ओर वह पुरुप से भी सन्मान न पा सकी । वही बात हुई आकाश से गिरे और खजूर में अटके ।

मानवता का आधार स्तम्भ नारी जब तक पतन की ओर पग बढ़ा रही है तब तक मानवता का निर्माण होना न केवल कठिन अपितु असम्भव है ।

स्त्रियों की इस प्रकार की परिस्थिति वर्णन करते हुए महाराज श्री ने पुरुष समाज को भी चेतावनी दी और कहा—कि यदि पुरुष चाहता है कि नारियाँ सीता और सावित्री बनें तो उसे सर्व प्रथम श्रीरामचन्द्र तथा सत्यवान के आदर्श पर चलना होगा । एक पत्नी पति को अपना पूज्य देव तभी समझ सकती है जब उसमें दैवी गुण विद्यमान हों । जो

पति अपने को देवता मान कर स्वय मनमानी क्रियाएँ करता है वह देवता नहीं कहा जा सकता और न अपनी पत्नी के पूज्य बनने का अधिकारी बन सकता है।

"मातृ पितृ भक्ति"

एक दिन महाराज श्री ने मातृ पितृ भक्ति पर भाषण करते हुए फरमाया कि जिन लोगों ने जैन शास्त्रों का और जैन साहित्य का स्वाध्याय नहीं किया वे एक भ्रममूलक आक्षेप करने का साहस करते हुए कहते है कि जैन शास्त्रों में साधुओं की जीवन वृत्ति की शिक्षाओं के बिना और कुछ भी नहीं लिखा है, ऐसा कहने वाले लोग या तो वे व्यक्ति है जिन्होंने जैन ग्रन्थों का अवलोकन ही नहीं किया। या वे जो अपनी क्षुद्र भावनाओं के वशीभूत होकर जैन धर्म की निन्दा करना चाहते है।

इतना कह कर महाराज श्री ने जैन धर्म में जो कुछ मातृ पितृ सेवा तथा भक्ति के विषय मे लिखा है उस पर एक सुन्दर व्याख्यान दिया। आपने कहा कि मानव जीवन मे मनुष्य के लिये माता-पिता का स्थान अत्यन्त उत्कृष्ट है। मनुष्य ससार के सारे ऋणों से मुक्त हो सकता है किन्तु माता-पिता द्वारा किये गये अत्यन्त उच्चकोटि के उपकारों से वह सहसा मुक्त नहीं हो सकता। जो मनुष्य अपने हृदय को इतना कुटिल और अधम बना लेता है कि वह मनुष्य अपने माता-पिता के उपकारों को भूल जाता है वह मानो अपने सिर पर इस ऋण का बोझा लादे रहता है और उसे कम करने का प्रयत्न नहीं करता। माता-पिता अपने बालक के जन्म काल से लेकर सुध सँभालने तक जो जो कष्ट सहन करते है उनका बदला न चुकाना अर्थात्-उनकी सेवा भक्ति न

करना घोर कृतघ्नता है। आपने फिर कहा कि-पशुओं में कुत्ता निकृष्ट गिना जाता है किन्तु वह भी अपने भोजन देने वाले का उपकार मानता है और अपने स्वामी के द्वार पर बैठ कर उसके गृह की रक्षा करता है और इस तरह से अपने ऋण को उतारता है। फिर जो मनुष्य इस सुन्दर मानव जीवन के प्रवर्त्तक माता-पिता का उपकार नहीं मानता, उनके द्वारा की गई बाल्यकाल कीसेवाओं का अपने को ऋणी नहीं समझता तो वह वस्तुत: उस कुत्ते से भी अधिक पतित है। इसीलिये एक कवि ने कहा है कि—

शोकं मा कुरु कुक्कुरु सत्त्वेष्वहमधम इति मुधा साधो।
कृष्टादपि कष्टतरं दृष्ट्वा, श्वानं कृतघ्न नामानम् ॥

अर्थात्-हे कुत्ते! यह सोच कर कि "मैं सब प्राणियों मे नीच हूँ" तू शोक मत कर, क्योंकि तुझसे भी अधिक नीच कृतघ्न लोग हैं-तू उनकी ओर देख।

सारांश यह है कि जो मनुष्य किए गए उपकार को नहीं मानता वह कृतघ्न होने के कारण कुत्ते से भी अधिक नीच है। अधिकांश पाश्चात्य शिक्षा के विष से प्रभावित युवक तथा कुछ धर्म के नाम पर सर्वथा अधर्म का उपदेश पाए हुए मनुष्य माता-पिता को कुछ भी नहीं मानते। आजकल के नवयुवकों तथा युवतियों के मस्तिष्क में माता-पिता के प्रति बड़ी खोटी भावनाएं आ चुकी हैं। स्थानाङ्ग सूत्र ठा० ३ उद्देश १ में लिखा है कि हे आयुष्मान्श्रमणो! तीन जनों के उपकार का बदला चुकाना अत्यन्त कठिन है अर्थात्-माता-पिता, पालन पोषण कर्त्ता और धर्माचार्य। यदि कोई मनुष्य अपने माता-पिता को शतपाक, सहस्र-पाक के तेल से मर्दन करावे, सुगन्धादि पदार्थ मल कर शुद्धोदक, गन्धोदक, या उष्णोदक, ऐसे तीन प्रकार के जल से स्नान करावे। सब उचित उचित आभूषण

पहनावे। अठारह प्रकार के शाक युक्त रुचिकर स्वादिष्ट तथा पौष्टिक पदार्थ खिलाये और अच्छे से अच्छे रसयुक्त भोजन करावे, जहाँ तक जीवित रहे, तहाँ तक अपने कन्धों पर विठा कर फिरता रहे तो भी जो उपकार माता-पिता ने सन्तान पर किए हैं उनसे उऋण नहीं हुआ जा सकता। फिर भगवती सूत्र में लिखा है कि मानव शरीर में जो तीन अंग हैं अर्थात् मास, रुधिर और मस्तिष्क का भेजा, ये माता से प्राप्त होते हैं और हड्डी, मज्जा, वाल, दाढी, रोम, नख पिता से प्राप्त होते हैं और फिर यह भी लिखा है कि शेष सभी अंग माता-पिता दोनों से वनते हैं। साराश यह कि पुत्र का सारा शरीर माता-पिता से ही मिला हुआ होता है। इसलिये वे वन्दनीय हैं।

फिर महाराज श्री जी ने कहा कि जैन शास्त्र (उवाई सूत्र) का कथन है कि माता-पिता आदि के आधीन रहने वाले अर्थात्-माता-पिता की शिक्षा खूव मानने वाले तथा उनको किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचाने वाले होने से ही भद्र कहला सकते हैं। इन्हीं गुणों से उन्हें विनीत कहते हैं। इसी को स्पष्ट करते हुए शास्त्रकार कहते हैं क जो अपने माता-पिता के सेवक तथा आज्ञाकारी होते हैं वे देव योनि में जन्म लेते हैं।

जैन शास्त्रों के प्रमाण वतला कर आपने कहा कि जैन शास्त्र तो ऐसी शिक्षाओं से भरे पड़े हैं। तत्पश्चात् आपने फरमाया कि जैनेतर शास्त्रों मे भी मातृ पितृ भक्ति को वड़ी महत्ता दी है। मनुस्मृति मे लिखा है कि—

> यं माता पितरौ सहेते क्लेशं सम्भवे नृणाम्
> न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥

अर्थात्-वालकों को पालन कर वड़े करने में माता-पिता ने जो कष्ट सहे हैं, उनका प्रत्युपकार सौ वर्ष तक सेवा करने से भी नहीं चुकाया जा सकता।

इसके अतिरिक्त विद्यार्थियों को समावर्त्तन संस्कार के समय यह उपदेश दिया जाता है कि—

'मातृ देवो भव, पितृ देवो, भव आचार्य देवो भव'

अर्थात्–माता, पिता तथा आचार्य यह तीनों देवता के सदृश पूज्य हैं।

गोसाईं तुलसीदासजी रामचरित मानस में लिखते हैं कि–

सुन जननी सोई सुत बड़भागी,
जो पितु मात वचन अनुरागी।
तनय मातु पितु तोषणी हारा,
दुर्लभ जननी सकल ससारा।

इस प्रकार और मतों के शास्त्रों मे भी माता पिता के उपकारों को न भुलाने, उनकी सेवा शुश्रूषा करने और सदैव उनके प्रति सम्मान तथा आदर देने के निमित्त आदेश दिये गये है। हिन्दुशास्त्र मे यह भी लिखा गया है कि धरातल पर ६८ तीर्थ हैं। उनमें हरिद्वार सर्वोत्कृष्ट कहा जाता है किन्तु उससे भी ऊंचा तीर्थ माता कही गई है। किं बहुना–कोई भी ऐसा सभ्य ग्रन्थ न होगा जिसमें माता-पिता के उपकारों का महत्त्व न दर्शाया गया हो।

इतना कह कर महाराज श्री ने कहा कि इस सारे कथन का तात्पर्य यह है कि हमने आज एक तो माता-पिता की भक्ति का महत्त्व जतलाना था। जो अभागे बालक अपने माता-पिता के आज्ञाकारी नहीं होते और विशेषतया वृद्धावस्था मे उनकी सेवा नहीं करते वे निःसन्देह नरकगामी होते हैं। और दूसरी बात यह दर्शानी थी कि लोगों के मन में जो यह भ्रम बैठा हुआ है कि जैन ग्रन्थों मे गृहस्थों के लिये गृहस्थ धर्म की शिक्षाएँ कुछ भी नहीं हैं उनको प्रमाण देकर दिखाना था कि जैन शास्त्रों मे पारिवारिक जीवन के प्रत्येक

पार्श्व पर बड़ी सुन्दरता तथा विस्तार से प्रकाश डाला गया है। कठिनता यह है कि जैनेतर लोगों ने तो जैन शास्त्रों को पढ़ना ही कहाँ है। जब कि जैन गृहस्थ स्वयं भी उनका स्वाध्याय नहीं करते, और इसीलिये यह भ्रम होता है।

"जैन धर्म की उदारता"

एक दिन महाराज श्री ने जैन धर्म की उदारता पर एक परम उपयोगी और एक महत्त्वपूर्ण भाषण दिया। आपने कहा कि जहाँ उदारता है, प्रेम है, वहीं धर्म का निवास है। धर्म का दूसरा नाम ही उदारता है क्योंकि धर्म उसे कहते हैं जो प्राणियों का उद्धारक हो, इसलिये धर्म का व्यापक, सार्वत्रिक या उदार होना आवश्यक है। जहाँ सकुचित दृष्टि है, पक्षपात है, सङ्कीर्णता है और शारीरिक अच्छाई बुराई के कारण आन्तरिक ऊँच-नीच का भेद-भाव है वहाँ धर्म नहीं हो सकता। क्योंकि धर्म का सम्बन्ध तो आत्मा से है, शरीर से नहीं। क्योंकि शरीर की दृष्टि से तो कोई भी पवित्र नहीं है सभी अपवित्र हैं। जिस शरीर को लोग प्राय ऊँचा समझते हैं उस शरीर को धारण करने वाले जीव कुगति में भी गये हैं और जिनके शरीर नीच समझे जाते हैं वे सुगति को प्राप्त हुये हैं। इसलिये यह निर्विवाद सिद्ध है कि धर्म चमड़े में नहीं किन्तु आत्मा में होता है। इसीलिये जैन धर्म इस बात को स्पष्टतया प्रतिपादित करता है कि प्रत्येक प्राणी अपनी प्रकृति के अनुसार उच्च पद प्राप्त कर सकता है।

जैन धर्म में स्थल-स्थल पर ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि जिनमे जातिमद का निषेध किया गया है। यथा लिखा है कि—

चाण्डालोऽपि व्रतोपेत पूजित देवतादिभिः।
तस्मादन्यैर्न विप्राद्यैर्जातिगर्वो विधीयते॥

अर्थात्–व्रतों से युक्त चण्डाल भी देवों द्वारा पूजा गया। इसलिये अपने आपको उच्च जाति का कहने वालों को जाति गर्व नहीं करना चाहिये। जैनाचार्यों ने तो ऊँच नीच का भेद मिटा कर, जाति पाँति का पचड़ा तोड़ कर और वर्ण भेद को महत्त्व न देकर स्पष्ट रूप से गुणों को कल्याणकारी बताया है। अमितगति आचार्य ने लिखा है कि—

शीलवन्तो गता स्वर्गे नीच जातिभवा अपि।
कुलीना नरकं प्राप्ता शील संयम नाशिन.॥

अर्थात्–जिन्हें नीच जाति मे उत्पन्न हुआ कहा जाता है वे शील धर्म को धारण करके स्वर्ग गये हैं और जिनके लिये उच्च कुलीन होने का मद किया जाता है ऐसे दुराचारी मनुष्य नरक गये हैं।

जो लोग अपनी उच्च जाति का अभिमान करते है और फलत. दीन, दरिद्री और दु खियों को नित्य ठुकरा कर जाति-मद में मत्त रहते है, ऐसे अभिमानियों का मस्तक नीचा करने के लिये पंचाध्यायी ने स्पष्ट लिखा है कि—

नैतत्तन्मनस्यज्ञानमस्म्यहं सम्पदां पदम्।
नासावस्मत्समो दीनो वराको विपदां पदम्॥

अर्थात्–मन में इस प्रकार का अज्ञान न होना चाहिए कि मैं तो श्रीमान् हूँ, बड़ा हूँ, अत· यह विपत्तियों का मारा दीन दरिद्री हमारे समान नहीं हो सकता–प्रत्युत प्रत्येक दीन हीन के प्रति समानता का व्यवहार रखना चाहिए। जो व्यक्ति जाति मद या धन मद से उन्मत्त होकर अपने को बड़ा समझता है वह मूर्ख है, अज्ञानी है। किन्तु जिसे प्राणी-मात्र सदृश प्रतीत हो वहीं ज्ञानी है, वही उच्च है, वही विद्वान् है, वही विवेकी है और वही सच्चा पण्डित है। सच बात तो यह है कि ऊँचों को ऊँचा नहीं बनाया जाता वह तो स्वयं ऊँचे हैं ही,

परन्तु जो भ्रष्ट है, पदच्युत है, पतित है उन्हें जो उच्च पद पर स्थित कर दे वही उदात्त एवं सच्चा धर्म है। यह विशेषता इस पतित पावन जैन धर्म मे है। जैन इतिहास बतलाता है कि जैन धर्म की शरण लेकर चण्डाल, वेश्याएँ तथा अन्य पतित जीवों का भी उद्धार हो गया है। यहाँ तक कि उनमे से कई पूज्य महामुनि बने है।

इस प्रकार के उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है जितनी उदारता, जितना वात्सल्य और जितना अधिकार जैन धर्म मे ऊँच नीच सभी मनुष्यों को दिया गया है, उससे इसकी उदारता निर्विवाद सिद्ध हो जाती है। जैन धर्म मे ही यह विशेषता है कि प्रत्येक प्राणी नर से नारायण हो सकता है। जैन-साहित्य मे कई ऐसे उदाहरण मिलते है। यथा अनङ्गसेना नाम की वेश्या अपने वेश्या कर्म को छोड कर जैन दीक्षा ग्रहण करती है और जैन धर्म की आराधना करके अपना कल्याण करती है। यमपाल चण्डाल जिसका काम लोगो को फाँसी पर लटका कर प्राण नाश करना था वही अछूत कहा जाने वाला पापात्मा जैन धर्म के व्रत पालन करके पूज्य बन गया था।

इससे प्रत्यक्ष रूप से यह सिद्ध होता है कि जैन धर्म का द्वार सब के लिये खुला है वहाँ किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं रखा जाता इसलिये जो इसकी शरण लेगा वही कल्याण का भागी बन जायेगा।

बोलो भगवान् महावीर स्वामी की जय !
बोलो उदार जैन धर्म की जय !!
बोलो महासतियों की जय !!!

"जीवित हो या मृतक"

एक समय महाराज श्री ने जीवित और मृतक की व्याख्या करते हुए फरमाया कि-यदि हम से कोई प्रश्न करे कि तुम जीवित हो या मृतक, तो हमें यह प्रश्न आश्चर्यजनक लगेगा। हम शायद प्रश्नकर्ता को ही बुद्धि विहीन समझें क्योंकि कोई मरे हुओं से भला कब किसी प्रकार का प्रश्न कर सकता है प्रश्न तो उसी से किया जा सकता है जो उत्तर दे सकता हो और उत्तर की आशा जीवित व्यक्ति से ही की जा सकती है। मरा हुआ तो बोल ही नहीं सकता उसकी तो वाक् शक्ति ही समाप्त हो जाती है। उसके तो प्राण ही नहीं होते वह उत्तर कैसे दे सकता है। इसी लिए कहा है कि—

जिन्दों से तो हम सकते हैं काम सभी ले।
मुर्दों ने भला काम क्या करना है यहाँ आ॥

यह युक्तियाँ हैं तो सत्य किन्तु ध्यान पूर्वक विचार करने से तथा विवेक से काम लेने से विदित होगा कि यह प्रश्न अकारथ नहीं है अपितु संगत और उपयुक्त है। पहले हमने यह विचार करना है कि जीवन क्या है। जीवित किसे कह सकते हैं ? साधारण रूप से तो हम यही कहेंगे कि जो चल फिर सकता है वह जीवित है। किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक लोगों ने विज्ञान बल से ऐसा पुरुष बना लिया है जो द्वार पर खड़ा रहता है उसे कोई बाहर से आकर पत्र दे तो वह अंदर अपने स्वामी के पास ले जाता है उसका उत्तर लाकर बाहर दे देता है। तो क्या हम उस यंत्र पुरुष को जीवित कह सकते

हैं ? कदापि नहीं। फिर हम कह सकते हैं कि जो श्वांस लेता है वह जीवित है। किन्तु सांस का आना जाना तो लोहार की धौंकनी से भी होता है तो क्या वह जीवित कही जा सकती है ? नितान्त नहीं। कहा भी है कि-

जा घट प्रेम न संचरै, सो घट जानु मसान।
जैसे खाल लोहार की सांस लेत बिन प्रान॥

फिर हम कह सकते हैं कि जो बोलता है वह जीवित होता है। परन्तु बोलती तो घड़ी भी है, इंजन भी बोलते हैं, ग्रामोफोन के रिकार्ड बोलते हैं, सिनेमा के चित्र चलते फिरते और बोलते भी है तो क्या हम उनको जीवित कह सकते हैं ? कभी नहीं। कोई कह सकता है कि जिसके अन्दर रक्त प्रवाह चलता हो, जिसके मुख पर रक्त प्रवाह के चिह्न हों, वह जीवित कहा जा सकता है अर्थात्-उसके मुख का वर्ण या रङ्ग जीवन सत्ता का परिचय दे सकता है। यह लक्षण भी पूरा नहीं उतरता। केवल एक विशेष रङ्ग का होना तत्त्व का सूचक नहीं हो सकता। एक ही रङ्ग होने पर प्रकृति में पूर्व पश्चिम का अन्तर हो सकता है। जैसे कि कहा है—

हंसा बगुला एक रङ्ग मान सरोवर मांहि।
बगुला ढूंढै मांछुरी हंसा मोती खांहि॥

फिर कह सकते है कि जो खाता पीता है, मल मूत्र का त्याग करता है वह जीवित कहा जा सकता है। किन्तु जीवित की यह परिभाषा भी ठीक नहीं बैठती क्योंकि हम देखते हैं कि रेल का इंजन भी कोयला खाता है पानी पीता है और जले हुए कोयले तथा भाप के रूप मे मल मूत्र का त्याग करता है तथापि हम इंजन की गणना जीवितों की श्रेणी मे नहीं करते।

इसी प्रकार और कई उपमा दी जा सकती हैं, किन्तु इन साधारण चिन्हों से जीवित तथा मृतक का यथार्थ भेद नहीं जाना जा सकता। तब प्रश्न होता है कि यदि उपरोक्त समस्त लक्षण जीवन का प्रमाण नहीं हैं तो फिर और क्या हैं?

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमारी बुद्धि सीमित है। हमारा ज्ञान अल्प है। आओ हम सद्‌शास्त्रों तथा पूर्णज्ञानी पुरुषों के कथनों का निरीक्षण करें जिससे हमे जीवित व्यक्तियों के वास्तविक गुणों का भान हो सके। शास्त्रों तथा आप्त पुरुषों ने जीवित प्राणियों की कई कसौटियाँ लिखी हैं। जिस मनुष्य को जानना हो कि वह जीवित है या मृतक, वह इन कसौटियों द्वारा जाँच कर सकता है। यदि वह इन कसौटियों पर पूरा उतरता है तब तो उसे समझना चाहिए कि वह जीता है अन्यथा वह सांस लेता हुआ और चलता फिरता हुआ भी मृतक ही है।

सद्‌ग्रन्थों और महापुरुषों के कथनो में जो जीवन लक्षण लिखे है अब वह सुनिये।

एक उर्दू कवि कहता है—

> जिन्दगी ज़िन्दा दिली का नाम है।
> मुर्दा दिल खाक जिया करते हैं॥

बस जीवित का एक लक्षण यह है कि वह सदा प्रसन्न चित्त तथा प्रसन्न वदन रहे। जिसका मन खेद युक्त और चिन्तातुर रहता है और जिसके मुख पर निराशा तथा अप्रसन्नता की कालिमा रहती है वह मनुष्य जीवित प्राणियों की पंक्ति मे नहीं आ सकता। भगवान् कृष्ण ने भी श्रीमद्‌भगवत् गीता के अन्दर कहा है कि वही मनुष्य दुःखों से मुक्त हो सकता है और उसी की बुद्धि ठीक काम दे सकती है जो

प्रसन्न रहता है। लिखा है कि—

प्रसादे सर्वदु.खाना ह्यानिरस्योपजायते।
प्रसन्न चेतसो ह्याशु बुद्धि प्रवितिष्ठते॥

अर्थात्–प्रसन्नता से समस्त दु:खो का विनाश हो जाता है। चित्त की प्रसन्नता से ही बुद्धि स्थिर होती है।

वास्तव मे चित्त को दु खी रखना आत्म हनन के तुल्य पाप है। विश्व के वड़े-वडे मनोविज्ञानियों का मत है कि निरन्तर दु:ख से खिन्न चित्त रहने पर मनुष्य एक दिन राक्षसी वृत्ति वाला वन जाता है अर्थात् चित्त की खिन्नता के वरावर दूसरा कोई पाप नहीं। वह मनुष्य जो खिन्न चित्त रहता है, वह अपना तो शत्रु होता ही है किन्तु समाज की भी वह भारी क्षति करता है और भगवान का भी वह प्रिय नहीं रहता। इसलिए हमे उचित है कि सदा प्रसन्न चित्त रहें। प्रसन्न चित्त रहने वाले पुरुष के मुख को देख कर उसके मिलने वालों की प्रसन्नता की मात्रा भी वढ़ेगी।

सुखों में तो सव ही प्रसन्न रहते हैं किन्तु दु.ख में प्रसन्न वदन रहना एक वड़े महत्व की वात है। यदि हम दु खों में प्रसन्न रहना सीख लेंगे तो दु:ख हमको दुखित करना भूल जायेंगे।

क्या यह ससार एक क्रीड़ास्थल नहीं है। आज हम एक पुरुष के सिर पर सेहरा वॅधा हुआ देखते हैं तो दूसरे दिन डाक्टर की पट्टी। आज हम जय की ध्वनि सुनते है और कल कोई खेद युक्त समाचार। यदि अपनी जय मे हम हॅसते है तो दु.खप्रद स्थिति में क्यों नहीं हँसते। जो लोग दु खों का हॅसते हँसते आवाहन करते है वे मनुष्यों से तो क्या मृत्यु से भी भयभीत नहीं होते और दु:ख सुख में प्रसन्न रहने वाला मनुष्य ही जीवित कहा जा सकता है।

वृथा की चिन्ता, भविष्य का भय तथा अपनी मन गढ़न्त अन्य कल्पनाएँ चित्त को व्यग्र किया करती हैं। बहुत से ऐसे विचार होते हैं जिनको सोचने की कोई आवश्यकता न होते हुये भी केवल अपने मन की प्रसन्नता का नाश करने तथा अशान्ति मोल लेने का स्वभाव पड़ जाता है और कुछ न हो तो उनको ही घोलते बैठना अच्छा लगता है। पुरानी घटनाओं को याद करके क्रोधावेश में आ जाना, चिड़चिड़ा स्वभाव बनाकर घर में कर्कश बने रहना, अपने आपको और पड़ोसियों को कोसना, मानो स्वयं ही आपत्ति मोल लेना होता है। ऐसे दूषित संस्कार जो चित को अशान्त बनाते हैं मनुष्य के घोर शत्रु होते हैं। मनुष्य बहुधा जितना दुखी किसी दुर्घटना के कारण होता है उससे अधिक दुःखी अपनी मूर्खता से तथा उसकी स्मृति से होता रहता है। इसलिए ऐसे वृथा के विचारों से बचने के लिये और चित्त को सदा प्रसन्न रखने के लिये अभ्यास करना चाहिये। भूतकाल की घटनाओं की स्मृति करके दुखी होना तो महामूर्खता है। उसका तो विचार ही नहीं करना चाहिये और भविष्य का भार होनहार के ऊपर डालकर शान्ति से समय बिताना चाहिये और सुख की निद्रा सोना चाहिये। चित्त को किसी उत्साहवर्धक सत्कार्य में लगाना चाहिये और ऐसे संसर्गों से बचते रहना चाहिये जो उनकी याद दिलाने में सहायक होते हों।

मनोविज्ञान के विद्वानों का कहना है कि मनुष्य की स्मृति परिमित होती है। वह अनन्त बातें याद नहीं रख सकती। यदि कुछ नवीन बातें याद होती हैं तो कुछ पुरानी बातें भूल भी जाती हैं। इस नियम के अनुसार चित्त को रोचक लगने वाली अर्थात्—उसमें आनन्द, प्रेम, उत्साह आदि की सात्विक भावनाओं को जागृत करने वाली नई-नई बातों

को जानने तथा मनन करने से पुराने दूपित विचारों से पीछा छुड़ाया जा सकता है। सत्संग, प्रभु कीर्तन तथा पवित्र सत्-शास्त्रों के स्वाध्याय में मन को लगाना, उसे खोटे विचारों से सुरक्षित रखता है। यदि अभ्यास से मन को संकल्प, विकल्प रहित रख कर एकाग्र भाव से आत्म चिन्तन मे लग जायें तव तो खेद, दु:ख अथवा शोक तथा चिन्ता इत्यादि अवगुण मन को स्पर्श भी नही कर सकते क्योंकि मन उस अवस्था में आत्मानन्द मे ऐसा विलीन होता है कि वह किसी भी वाहरी तरंग से प्रभावित नहीं होता।

ऐसी अवस्था वताने के लिये हमे परिश्रम करना होगा। हमे अपने जीवन को संयममय वनाना होगा। त्याग और तपस्या का सहारा लेना होगा। चरित्र को ऊँचा करना होगा। जो मनुष्य सयम विहीन और चरित्र विहीन हैं उनके मन की कलिका कभी विकसित नहीं हो सकती। इसलिए (चित्त की प्रसन्नता और चित्त की शान्ति की उपलब्धि के लिये चित्त को खिन्न करने वाली भोग वासनाओं को दूर भगाना होगा)। सासारिक पदार्थों मे सुख की खोज करने के स्थान मे आत्मानन्द मे मज्जन करना होगा। जो लोग विपय भोग के द्वारा प्रसन्नता लेना चाहते हैं वे मानो गन्दी नाली में से दूध प्राप्त करने का निरर्थक प्रयास करते हैं।

आधुनिक काल मे पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित होकर भारतीय लोग भी अपने पूर्वजों के पद-चिह्नो को छोड़कर भोग विलास की ओर दौड़ रहे है। यही वात इस अभागे देश के पतन का कारण है। हमारी तो संस्कृति ही सदाचार की नींव पर निर्माण की गई है। हमारे शास्त्र विपयों को विपवत् वताते हैं और वास्तव मे वे विष से भी अधिक हानिकारक हैं।

विषय त्यागी मनुष्य ही वस्तुत बड़भागी है। विषय-सेवन में लगे हुए लोग तो अभागे हैं, उनके तो मानो भाग्य फूटे हुए हैं। विषयासक्त पुरुष को करोड़ जन्मों में भी भगवत्प्राप्ति का मार्ग नहीं सूझ सकता। अतः महादेव जी ने भी एक जगह कहा है कि—

सुनहुँ उमा ते परम अभागी।
हरि तज होहिं विषय अनुरागी॥

विषय निवृत्त जीवन ही सुख तथा शान्ति के साथ बीत सकता है। विषयासक्त पुरुष तो अनन्त झंझटों, दुःखों और विषय सेवन से होने वाले पापों तथा परिणाम स्वरूप प्राप्त होने वाले महान् संकटों में फँसा रहता है।

हमें पवित्र जीवन के गौरव का ज्ञान होना चाहिये। हमें यह हृदयङ्गम कर लेना चाहिए कि विषयासक्त जीवन घृणित और दुःखमय है। भोग जीवन की समाप्ति के साथ ही अत्यधिक सुख और परमानन्द की प्राप्ति कराने वाले आध्यात्मिक जीवन का आरम्भ होता है। विषय सेवन से विषयों में आसक्ति कामनादि बढ़ते हैं। विषय त्यागी मनुष्य पुण्यशाली और भाग्यवान होते हैं। विषयविरागी, त्यागी संन्यासी सबके पूज्य, आदरणीय और श्रद्धास्पद होते हैं। संसारी के लिए कामिनी काञ्चन, विषय भोगादि सुखरूप हैं; यही मनोभावना बदल जाने से एक विरक्त के लिए दुःखरूप होजाते हैं। जो मनुष्य वस्तुतः सुख के अभिलाषी हैं उन्हें विलास प्रियता का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए तथा अपने जीवन को सीधा सादा संयम पूर्ण तपोमय बनाने की चेष्टा करनी चाहिए।

विलास प्रियता संसार में जितनी हानि करती है उतनी कोई बड़े से बड़ा-शत्रु भी नहीं कर सकता। विलासप्रिय राजाओं ने अपने राज खोये। विलासप्रिय व्यक्तियों ने

अपना सर्व नाश किया। इसलिए भोग विलास से दूर रहने मे ही भलाई है। यह वह आग है जो निश्चय-रूप से सर्व भस्मीभूत कर डालती है।

आत्म-जागृति

यदि हम दीर्घ दृष्टि से देखे तो हम जीवित उसी को कहते है कि जिसके शरीर के अन्तर्गत आत्मा भी विद्यमान हो। आत्मा के चले जाने के पश्चात् शरीर के रहते हुए भी मनुष्य मृतक कहा जाता है। तो इस प्रकार शरीर और आत्मा का सयोग ही जीवन का चिह्न है। किन्तु जब मनुष्य सोया हुआ हो तो उस समय भी मृतक की सी अवस्था होती है। इस लिये यदि हमारी आत्मा जागरण अवस्था मे हो, तभी हम जीवत कहे जा सकते है। यदि हमारी आत्मा सुप्त हो, अचेत हो, असावधान हो तथा कर्त्तव्यभ्रष्ट हो तब शरीर और आत्मा का संयोग रहते हुये भी हम जीवित नहीं कहे जा सकते। अत आवश्यक है कि हम अपनी आत्मा को सचेत और सतर्क रक्खे।

प्रश्न हो सकता है कि आत्मा को सतर्क किस प्रकार से रखा जा सकता है? आत्मा वही सतर्क कही जा सकती है, जो पापों की मैल से लिप्त नहीं होती। कुकर्मों में प्रवृत्त नहीं होती। जिसके अंतरंग शत्रु काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा, अहंकार, राग, द्वेष इत्यादि जब उस पर आक्रमण करते है उस समय उससे भयभीत हो कर छिप नहीं जाती। अपितु वीरता से उनका सामना करके उन सब को परास्त करती है और फिर प्रत्येक को यत्न शील रह कर बाहर निकाल फेंकती है। ये शत्रु पुन पुन आक्रमण करते है परन्तु वीर आत्मा हर समय उनको पछाड़ देती है और किसी अवसर

पर भी उनका मन्द प्रभाव अपने ऊपर नहीं पड़ने देती। और आत्मा को इस बातका ज्ञान होता है कि मेरा बल अनन्त है, मेरी शक्ति अपार है, मेरी क्षमता अथाह है, हमें यह बात न भुलानी चाहिए कि संसार की समस्त शक्तियाँ आत्म-शक्ति के सन्मुख तुच्छ और क्षुद्र होती हैं। अंतरंग शत्रु भले ही कितने प्रबल हों तथापि वे अजेय नहीं हैं। आत्म शक्ति अवश्य उन पर विजय प्राप्त करती है। आत्मा की दृढ़ता और उसका प्रबल संकल्प इन शत्रुओं को खंड खंड कर देता है। इसलिये यदि हमारी यह भावना है कि हम संसार में जीवित कहे जायें तो हमे अपनी आत्मा को सतर्क और सावधान रखना होगा। इसमें किसी प्रकार के दोषों या अवगुणों को प्रवेश करने का अवसर नहीं देना होग।

आत्मा में परमात्मा का बल आ जाने पर उसकी सारी त्रुटियाँ दूर हो जाती हैं। उसकी सारी असफलताये मिट जाती है। उस समय ईश्वरीय शक्ति मनों वाञ्छित कार्य्य पूरा कर देती है। इसी समय भक्त लोग भौतिक शक्तियों का विश्वास छोड़ कर आध्यात्मिक शक्तियों का आह्वान करते है। उस समय अज्ञान का आवरण दूर होते ही उन्हें जिस आनन्द का अनुभव होता है और जो शक्ति प्राप्त होती है। तथा ज्ञान की जो ज्योति प्रकट होती है उसके सन्मुख ससार की समग्र सम्पत्तियाँ तुच्छ है, नगण्य है, हीन है। इसी अलौकिक आनन्द का अनुभव करने के लिये अनेक मनुष्य राजवैभव को ठुकरा कर अकिंचनता धारण करते हैं। तत्पश्चात् उस दिव्य आनन्द की अलौकिक धारा स्रोत वहने लगता है।

इस प्रकार जो आत्मा जागृत रह कर अपने स्वरूप को प्राप्त करके इस दिव्य आनंद की उपलब्धि करती है वही आत्मा

सफल वनती है अन्यथा जो आत्मा इस सुख से वंचित रहती है और सासारिक भोग विषयों मे विलीन रह कर इस लोक के क्षणिक सुखो से ही सतुष्ट रहती है वह आत्मा असफल रहती है और ऐसी आत्मा का स्वामी जीवित नही कहा जा सकता। सतर्क, वलवान और अलौकिक आनन्द युक्त आत्मा का अधिपति ही जीवित कहलाने का अधिकारी हो सकता है। अतएव हमें उचित है कि हम अपनी आत्मा की पुरानी जमी हुई समस्त मैल को तप, त्याग और भक्ति द्वारा दूर करें। सुकृत से अर्थात्-शुभ कर्मो से नई मैल को जमने न दें और शुभ्र ज्ञान के द्वारा इसे प्रकाश युक्त और उज्ज्वल बना कर अपने इस जन्म को सफल वनावें। इसी प्रकार का आचरण करने से हम मृतकों की श्रेणी से वाहर निकल सकते है और तभी जीवितो की पंक्ति में हमारी गणना हो सकती है।

दूषित पदार्थों का सेवन

यह एक सर्व मान्य वात है, कि मनुष्य का आचार और व्यवहार उसके विचारों पर निर्भर है, क्योंकि इस विषय में शास्त्र कहता है "अन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति। यद्वाचा वदति तदेव कर्म करोति" अर्थात्-मनुष्य जिस प्रकार से अपने मन द्वारा सोचता है तैसे ही वचन वोलता है और जैसे वचन वोलता है तैसे ही कर्म करता है। इसलिए मनुष्य की जीवन रसन उसके विचारों पर अवलम्बित है। विचार मन द्वारा होते है। मन आहार से वनता है क्योंकि कहा है कि—

जैसा अन्न जल खाईए तैसा ही मन होए।
जैसा पानी पीजिए तैसी वाणी सोए॥

अतएव मनुष्य के शुभ या अशुभ जीवन का संवंध उसके

आहार से सम्बन्धित है। और यह एक स्वतःसिद्ध तथा निर्विवाद विषय है कि जीवित मनुष्य वही कहा जा सकता है जिसका जीवन शुद्ध और पवित्र है। जिसका जीवन कलुषित कलंकित तथा अशिव है जिसकी अप्रतिष्ठा तथा अकीर्ति संसार में चल रही है वह मृतक ही है। इससे सिद्ध हुआ कि मनुष्य जीवित वही कहा जा सकता है जिसका आहार उत्तम और निर्दोष है। किन्तु जिसका आहार निकृष्ट तथा दोष युक्त है वह अपने मैले मन होने के कारण खोटे विचारों का स्वामी बनेगा उससे उसका जीवन अशुभ तथा अमङ्गल बन जाएगा जिसके फलस्वरूप उसका अपयश और अख्याति होगी और परिणामत. वह चलता फिरता शव बन कर रह जाएगा।

अब प्रश्न हो सकता है कि अशुद्ध तथा दूषित आहार कौनसा होता है। इसका उत्तर यह है कि अशुद्ध अनिष्टकर एवं दूषित आहार वह होता है कि जिससे मन उत्तेजित हो। मन आवेश युक्त बने और जिससे मनुष्य की बुद्धि पर मन्द प्रभाव पड़े। ऐसे कुत्सित पदार्थों में सर्व प्रथम मादक पदार्थ आते हैं। मादक द्रव्यों के सेवन से मनुष्य की बुद्धि दूषित हो जाती है। उसे हित अहित तथा इष्ट अनिष्ट का भान ही नहीं रहता। मादक पदार्थों में मदिरा या सुरा पान सबसे निकृष्ट है। इसीलिये एक कवि कहता है कि—

शराबी गंदी नालियों मे प्रायः।
पड़े रहते हैं सर को अपने धर के॥
कोई मुंह में चाटे कोई मुँह मे मूते।
कोई कुत्ता देखे उसे नजर भरके॥
जीने से ऐसा है वेहतर ही मरना।

एक और कवि कहता है कि—

तुम जो पीते हो बादाये रंगी, आँसुओं की शराब पीते हो।
जिन्दगी है यह मौत से बत्तर, रोज मरते हो रोज जीते हो॥

इसीलिये मदिरापान करने वाला मनुष्य वास्तव में मृतक पुरुषों की श्रेणी में ही गिना जाता है। कई ऐसे पुरुष कि जो बडी तीव्र बुद्धि के स्वामी थे और जो उसके द्वारा बड़े चमत्कार कर सकते थे वे इस मन्द पेय वस्तु के सेवन के कारण अपनी बुद्धि का नाश कर बैठे और उनकी प्रत्येक प्रकार की उन्नति को बाँध लग गया। उन्होंने न केवल अपना जीवन ही नष्ट भ्रष्ट किया वरन् अपने परिवार को भी अनेक विपत्तियों में डाला और अपनी सन्तान का अतिशय अनिष्ट किया। इसीलिये एक मदोन्मत्त पुरुष को सम्बोधन करता हुआ एक कवि कहता है कि—

कौन वह तेरा शत्रु था, जिसने तुझे यह राह बताई।
कौन था ऐसा हत्यारा, जिसने तेरे घर को आग लगाई॥
आज तू अपने घर को देख, यह अग्नि ज्वाला कैसी है।
इनमें तेरे जीवन का, हर सपना जलता जाता है॥
तेरे घर की दीवारों से, सूनापन यूँ कहता है।
जैसे कोई रोग किसी रोगी को खाता जाता है॥
आँख उठा वह तेरे बच्चे, भूख से पडे कराहते हैं।
और वह तेरे घर की रानी, अपने फटे हुये आंचल से॥
दिन भर आँसू पूँछ के भी, रातों को चैन न पाती है।
लहरों में बहने वाले, मत भूल किनारा पास नहीं॥
यह नैया डूब ही जायेगी, जब कोई सहारा पास नहीं।
समय तुझे कहता है पागल, क्यों होश में तू नहीं आता है।
अभी समय है जीवन को क्यूँ व्यर्थ गँवाये जाता है॥

जीवित मनुष्य वही होता है जो देख भाल कर चलता

है, सोच विचार कर काम करता है। किन्तु सोच-विचार का आधार है बुद्धि। यदि बुद्धि ही काम न करे तो सोच विचार कैसे हो। शराबी की बुद्धि काम नहीं कर सकती, उस पर आवरण आ जाता है। वह भला बुरा कुछ नहीं सोच सकती। हित अहित, इष्ट अनिष्ट के भेद का भान नहीं रहता। इसका परिणाम यह होता है कि शराबी मनुष्य ऐसी क्रियाये करता है और ऐसे मार्ग पर चल जाता है कि जिससे उसका जीवन कलंकित हो जाता है। भले पुरुष उसे समीप नही आने देते। लज्जा के मारे वह स्वयं भी किसी शुभ स्थान पर नहीं जा सकता। सज्जन पुरुषों की संगत नहीं कर सकता। बुद्धि आच्छादित होने के कारण अपनी जीविका का भी पूर्णरूपेण ध्यान नहीं कर सकता। इसलिये मद्य, माँस, भाँग, चरस, अफीम, गाँजा इत्यादि जितने भी मादक एवं तामसिक द्रव्य हैं वे सब त्याज्य हैं। जो मनुष्य अपने जीवन को सफल बनाना चाहते हैं, जिन्हें आत्म कल्याण की कुछ भी अभिलाषा है उन्हें उचित है कि समस्त प्रकार के दूषित पदार्थों के सेवन का परित्याग करके सात्विक पदार्थों का आहार करें तभी उनके मन और बुद्धि अच्छे बन कर उनके वास्तविक सहायक बन सकते हैं।

पारिवारिक जीवन

जीवन लक्षण को हम एक और अपेक्षा से भी देख सकते है अर्थात्–जीवन चिह्न एक और दृष्टि से भी जाँचा जा सकता है। संसार मे हम देखते हैं कि कोई वस्तु अकेली नहीं है। एक वृक्ष को देखें तो उसमें लता है, टहने हैं, टहनियाँ हैं, फल है, फूल है, पत्ते हैं। इन सबके संयोग से ही वह वृक्ष कहलाता है। एवं एक भवन पर दृष्टि-पात करने से अनुभव होता है कि उसमे ईंटे है, गारा है शैहतीर है, द्वार है अर्थात्–इन सबका समूह ही भवन कहलाता है। फिर हम अपने शरीर की ओर दृष्टि डाले तो उसमें शिर है, जाँघें हैं, बाजू है तथा अन्य इन्द्रियाँ है। इन सबके मेल से ही शरीर बनता है। यदि वृक्ष पर टहने, पत्तियाँ न रहें तो वह वृक्ष जीवित नहीं कहा जाता। एवं भवन की यदि ईंटें तथा अन्य सामग्री अस्त व्यस्त हो जाये और उनका परस्पर संयोग न रहे तो उसे भी भवन संज्ञा नहीं दी जा सकती। इसी प्रकार शरीर से यदि शिर जुदा हो जाये तो वह शरीर का नाम नहीं पा सकता। इससे पता लगता है कि जीवन का एक चिह्न है सयोग, मेल अथवा प्रेम। यह नियम संसार की प्रत्येक वस्तु पर लागू होता है भले ही वह चेतन है या अचेतन। यहाँ तक कि स्वयं भगवान् भी इस नियम से बाहर नहीं रह सकते क्योंकि भगवान् के साथ भी उनकी शक्ति का संयोग है।

इसी नियम के अनुसार मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन के अतिरिक्त उसका सामूहिक जीवन है। जैसे जाति जीवन. देश

जीवन, राष्ट्र जीवन इत्यादि। यदि किसी जाति का जाति जीवन समाप्त हो जाता है तो उस जाति के व्यक्तियों का जीवन भी शेष नहीं रह जाता।

इन समस्त सामूहिक जीवनों का आधार भूत पारिवारिक जीवन है। जहाँ पारिवारिक जीवन नियमबद्ध होकर जीवित है वहाँ ही व्यक्तिगत जीवन भी ठीक रह सकता है और वहाँ ही जातीय जीवन और राष्ट्र जीवन स्थिर रह सकते हैं। आज जहाँ हमें एक ओर व्यक्तिगत जीवन निर्मूल और निराधार दृष्टिगोचर होते हैं वहाँ दूसरी ओर जातीय जीवन और राष्ट्र जीवन का भी अवसान प्रतीत होता है। इस दोनों ओर की शिथिलता अथवा निर्जीवता का कारण पारिवारिक जीवन का अस्वस्थ होना है। यदि पारिवारिक जीवन का क्रम ठीक रहे तो अन्य सारे जीवन की आधार शिला बन सकती है। इसलिए यदि हम व्यक्तिगत रूप से जीवित रहना चाहते हैं और अपनी जाति तथा राष्ट्र को भी जीवित रखना चाहते हैं तो हमारा कर्त्तव्य है कि अपने पारिवारिक जीवन की सँभाल करें। जब तक हम पारिवारिक जीवन में यथार्थ रूप से प्राण नहीं डाल सकते तब तक न हम स्वयं जीवित कहे जा सकते हैं और न अपनी जाति और राष्ट्र को जीवित रख सकते हैं। इसे एक उदाहरण से समझाते हैं।

भारत मे कामधेनु की कल्पना अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है। यह कहना तो कठिन है कि कामधेनु का वास्तविक स्वरूप क्या है क्योंकि आज तक किसी ने प्रत्यक्ष रूप से उसे देखा नहीं। वह केवल एक सुखद कल्पना रूप में ही हमारे मस्तिष्क मे विद्यमान है। अस्तु, उसका ठीक स्वरूप कुछ भी हो उस परोक्ष कामधेनु के स्थान में हमे प्रत्यक्ष

कामधेनु की ओर तो अवश्य ध्यान देना चाहिये। नेत्र गोचर वस्तु के प्रति उपेक्षा धारण करके एक कल्पित वस्तु की प्राप्ति का यत्न करना कुछ लाभ नहीं दे सकता। अतएव हमारे सामने जो कामधेनु है उसी की ओर हमें दृष्टिपात करना चाहिये। यही कामधेनु हमारा समस्त मनोरथ पूर्ण कर सकती है।

वह प्रत्यक्ष कामधेनु क्या है? वह हमारा प्रत्येक परिवार है। कामधेनु जिस प्रकार अपने चार पैरों पर अवलम्बित रहती है उसी प्रकार परिवार रूपी कामधेनु माता, पिता, पुत्र और पुत्रियों के चतुर्विध समूह के सहारे स्थित है। एक भी पैर अगर स्वस्थ और पुष्ट न हो तो कामधेनु लँगड़ी हो जाने के कारण प्रगति करने में पूर्णतया समर्थ नहीं रहेगी। प्रगति करने के लिए चारों पैरों का शक्तिशाली और सुदृढ़ होना आवश्यक है। एवं परिवार रूपी कामधेनु भी तभी प्रगति कर सकती है जब उसके पूर्वोक्त चारों पैर समान रूप से सामर्थ्य-वान हों। यदि एक भी पैर दुर्बल या रुग्ण हुआ तो उसकी प्रगति में बाधा पड़ना अनिवार्य है। यद्यपि कामधेनु के दो पैर आगे और दो पैर पीछे रहते हैं तथापि प्रगति के विचार से चारों का ही अपना-अपना महत्व है। इसी प्रकार परि-वार रूपी कामधेनु के दो पैर माता और पिता आगे हैं, और दो पैर पुत्र और पुत्रियाँ पीछे हैं। तो भी प्रगति की अपेक्षा से सभी का स्वकीय महत्व है। चारों पैर परस्पर सहायक होते हैं।

यह ध्यान रखना चाहिए कि कामधेनु जिस ओर प्रयान करने की इच्छा करती है तो उसके चारों पैर भी उसी ओर आगे को बढ़ते हैं यदि चारों पैरों में समन्वय अथवा एकरूपता न हो और चारों पैर विरुद्ध दिशाओं में चलना चाहें तो

बेचारी कामधेनु की क्या स्थिति हो। वह एक भी पग आगे नहीं बढ़ सकेगी और उसके लिए जीवित रहना भी दूभर हो जायेगा। इसी प्रकार परिवार रूपी कामधेनु के चारों आधार जब एकही दिशा में प्रयाण करने के निमित्त तत्पर होंगे, तभी वह आगे बढ़ सकती है। चतुर्विध परिवार समूह की दिशा भी यदि एक न हो और सब अपनी-अपनी मनमानी करने लगें तो वह कामधेनु आगे नहीं बढ़ सकती। इतना ही नहीं अपितु उसका जीवित रहना भी कठिन हो सकता है और उसका सुखी रहना तो सम्भव ही नहीं।

हम देखते हैं कि एक गाय के पिछले दोनों पैर अगले पैरों का अनुसरण करते हैं। अगले पैरों का जो लक्ष्य होता है वही पिछले पैरों का भी होता है। उसी प्रकार परिवार में माता पिता दोनों अगले पैर हैं और पुत्र पुत्रियाँ दोनों पिछले पैर हैं। अतः उपर्युक्त नियम के अनुसार सन्तान रूपी दोनों पिछले पैरों को माता पिता रूपी दोनों अगले पैरों का अनुकरण ही करना चाहिये। जो लक्ष्य माता पिता का हो वही सन्तान का होना चाहिये। प्रायः सन्तान की प्रत्येक प्रकार की उन्नति के निमित्त जो ध्येय माता पिता का होता है वही उनके लिये हितकर होता है। ऐसा तो कभी-कभी होता है कि कोई विचार-हीन और विवेक रहित माता पिता अपनी सन्तान को अनिष्टकर लक्ष्य की ओर प्रगति करावे। इसीलिए अगले पैरों पर जहाँ अपने हित का भार है वहाँ पिछले पैरों का भी उत्तरदायित्व उन पर है। अतएव प्रस्थान करने से पूर्व उन्हें अपने मार्ग का भली भाँति विचार करना चाहिये। और जब वे ऐसा कर लें तत्पश्चात् पिछले पैरों को अगले पैरों का अनुसरण करना चाहिये। इसी में उनका कल्याण है।

जिस प्रकार कामधेनु मे यह सामर्थ्य है कि वह तृण जैसे तुच्छ पदार्थ को भी गृहण करके उसे दुग्ध रूप में परिणत कर लेती है। और यदि कामधेनु मे यह शक्ति न होती तो कौन उसकी पूजा और सेवा करता ? उसी प्रकार परिवार रूपी कामधेनु में भी यह शक्ति होनी चाहिये कि अल्प सी गृह सामग्री होने पर भी पूर्ण सुख की प्राप्ति कर सके। जिस गृह मे परस्पर प्रेम और विश्वास है वहां निर्धनता और अकिंचनता भी उनके आनन्द लाभ मे वाधक नही हो सकतीं। फिर परिवार मे जो भी जिस अवस्था मे अपने अपने पूर्व कृत कर्मानुसार आया है वह भले ही सन्तोप जनक अथवा उच्च स्थिति मे नहीं है अर्थात्–शारीरिक सौन्दर्य, शारीरिक वल अथवा वुद्धि तथा ज्ञान मे वहुत पीछे है तो भी परिवार रूपी कामधेनु को उसे दुग्ध रूप मे परिणत कर लेना चाहिये अर्थात्–सभी को मिल कर उसकी दशा को सुधार लेना चाहिये। ऐसा करने मे जहाँ वे उस अपने एक अंग को सुखी वनायेंगे वहाँ अपने आप को भी आल्हादित करेंगे।

जिस प्रकार कामधेनु का दूध निष्कलंक उज्ज्वल और मधुर होता है उसी प्रकार परिवार-रूपी कामधेनु की क्रियायें निष्कलंक, उनके मन उज्ज्वल और उनके वचन मधुर होने चाहियें तभी उन्हें सुख रूपी दुग्ध की उपलब्धि हो सकती है। यदि इस प्रत्यक्ष कामधेनु मे यह शक्ति न हुई तो कौन इसका सुख ग्रहण कर सकेगा और कौन इसकी उच्चता को मानेगा ?

कामधेनु के चार स्तन होते है और चारों स्तनों के द्वारा निकलने वाले दूध को प्राप्त करके कामधेनु का सेवक अपने को कृतार्थ मानता है। परिवार रूपी कामधेनु के भी चार स्तन है अर्थात्–प्रेम, विश्वास, शुद्धाचार और शुद्धभावना।

इन चारों स्तनों के द्वारा निकलने वाला दूध रूपी फल भी समान होता है और उस फल को पाकर परिवार के सभी व्यक्ति अपने को कृतार्थ बनाते हैं।

जिस प्रकार कामधेनु को दो सुन्दर सींग सुशोभित करते हैं उसी प्रकार यह कामधेनु भी पुरुषार्थ और आत्म विश्वास रूपी सींगों से शोभायमान होनी चाहिये। याद रखना चाहिये कि कोई भी एक सींग दूसरे के अभाव से शोभाजनक नहीं होता। इसी प्रकार पुरुषार्थ के विना आत्म विश्वास और आत्म विश्वास के विना पुरुषार्थ शोभा नहीं पाता। न ही सुख प्रद हो सकता है। अतएव मनुष्य के दोनो बाजुओं के समान परिवार के लिए इन दोनों बाजुओं की आवश्यकता है। जहाँ पुरुषार्थ का अभाव है या आत्म विश्वास की अनुपस्थिती है वहाँ सुख कहाँ ?

कामधेनु की दो दृष्टियां है अर्थात्–उसके दो नेत्र हैं। वह दोनों से काम लेती है। इस परिवार रूपी प्रत्यक्ष कामधेनु को भी दोनों लोचनों से काम लेना चाहिये। एक नयन से उसे अपने भीतर घुसे हुये कुसस्कारों को, कुरूढ़ियों को, अज्ञान, अनैक्य, अनुत्साह, द्वेष, कलह क्लेष, इत्यादि दोषों को देखकर उनकी निवृत्ति करनी चाहिये और दूसरी दृष्टि से संसार मे पग-पग पर ध्यान पूर्वक देखकर प्रगति करनी चाहिये। किसी ऐसी क्रिया में प्रवृत्त नहीं होना चाहिये कि जिससे परिवार के किसी एक व्यक्ति को या सामूहिक रुप से समस्त परिवार को दुःखी या उत्तप्त होना पड़े। इस प्रकार दोषों तथा अवगुणों को त्यागने से और उनके स्थान पर सद्गुणों को ग्रहण करने से कल्याण का, अभ्युदय का और प्रगति का मार्ग मिलेगा और जीवन सुखमय और शान्तिमय बनेगा।

लोक में कामधेनु की बडी महिमा है। लोग उसे बड़े आदर की वस्तु समझते हैं। किन्तु उसे यह महिमा और यह आदर निष्कारण प्राप्त नहीं हुआ है वह अपने सर्वस्व का अर्थात्–अपने जीवन रस (दुग्ध) का त्याग करके अपने आश्रितों का रक्षण और पोषण करती है। इसी त्याग के कारण और इसी सेवा के वदले मे उसे महिमा मिली है। यदि हम भी अपनी परिवार रूपी कामधेनु को महिमा मयी वनाना चाहते हैं तो हमे अपना व्यक्तिगत स्वार्थ त्यागकर सेवा और परोपकार का पाठ सीखना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति का यह प्रयास होना चाहिये कि वह शेष व्यक्तियों के सुख और शान्ति के निमित्त पूर्णरुपेण यत्नशील हो। एक वात और कामधेनु उसी को मनोवांच्छित फल प्रदान करती हैं जो उसकी देख भाल करता है। यदि कामधेनु का कोई ध्यान ही न करे तो वह किस प्रकार जीवित रहेगी और कैसे दुग्ध रुपी अमृत देगी। इसी प्रकार यदि परिवार के सभी व्यक्ति उसकी देख भाल करेंगे, उसको और पुष्ट वनायेंगे तो वह परिवार वालों को पुष्ट और आनन्दित वनायेगी। पारस्परिक आदान प्रदान का नियम यहा पूर्ण रुप से लागू होता है।

इस उदाहरण को सम्मुख रखते हुये पारस्परिक सहायता से स्वयं सुखी रह कर सारे परिवार को सुखी वना सकते हैं। और यदि एवं प्रकार समस्त परिवार सुखी वन जाये तो सारा देश, सारा राष्ट्र सुखी वन सकता है। इस नियम का उल्लंघन करने से ही आज दुखों और क्लेपों की वाढें आ रही है। इसलिये इनसे वचने के लिये शीघ्रातिशीघ्र इस नियम को धारण करके इसका पालन करो।

———

परोपकार

एक तत्वदर्शी पुरुष प्रकृति की प्रत्येक वस्तु से शिक्षा ग्रहण करता है। चमकते हुये सूरज को, झलकते हुये तारों को, छलकती हुई नदियों को देखकर उसके मन में अनेक विचार उत्पन्न होते हैं। वह इन निर्जीव प्राकृतिक पदार्थों की क्रियाओं की—अपनी जीवन क्रियाओं से तुलना करता है और उससे अपनी त्रुटियों का प्रतिबोध करके उनकी निवृत्ति के लिये चेष्टा करता है।

जंगल में झर-झर ध्वनि करके बहते झरनों को देख कर तत्वदर्शी विचार करता है कि जब मैं इस झरने के पास नहीं आया था तब भी इस झरने से झर्-झर् की ध्वनि हो रही थी अब मैं इसके समीप आया हूँ तब भी वही शब्द कर्णगोचर हो रहा है। जब मैं यहाँ से उपगमन कर जाऊँगा तब भी यह इसका नाद समाप्त नहीं होगा। चाहे कोई राजा आवे या रंक, पुण्यात्मा आवे या पापी, पण्डित आवे या मूर्ख, श्याम वर्ण का आवे या गौर रंग का, इसके लिये सभी एक समान हैं। कोई इसकी स्तुति करे या निन्दा, कोई इसे प्यार की दृष्टि देखे या घृणायुक्त दृष्टि से, यह उस पर कुछ ध्यान नहीं देता। किन्तु सदैव एक रस हो कर एक ही रूप में अपनी ध्वनि को चालू रखता है। न उसे न्यून करता है न अधिक। वह अपने शब्द में तनिक भी परिवर्तन नहीं करता। इसी प्रकार जैसे यह झरना अपने स्वभाव को दृढ़ रखता है, अपने धर्म पर स्थिर रहता है, वैसे ही मैं भी यदि अपने धर्म पर आरूढ़ रहूँ तो मेरा जीवन भी सार्थक हो जाये।

इस झरने में राग-द्वेष नहीं है। यह सदा शान्त वृत्ति में इसी प्रकार अपनी क्रिया करता रहता है। एवं जिस पुरुष में झरने के ये गुण विद्यमान हैं वास्तव मे वही जीवित है।

झरना जितना पानी पाता है यह सब दे डालता है। ज्यों ज्यो वह उस शीतल और मधुर जल का दान करता है। त्यों त्यों उसे और प्राप्त होता चला जाता है। उसका जल वैसा ही शीतल और स्वादिष्ट रहता है। यदि यह झरना संकीर्णता के वशीभूत हो कर जल का त्याग करना अर्थात्-जल का दान देना बन्द कर दे तो उसका जल सड़ जाये। उसमे से दुर्गन्ध आने लगे और उसे कोई भी झरने के नाम से याद न करे। इसी प्रकार वही पुरुष मनुष्य कहे जाने का अधिकारी होता है और उसी को जीवित कह सकते है जो अपने धन तथा अन्य वस्तुओं को स्वार्थवश होकर केवल अपने लियेही नहीं रखता। किन्तु उदारता और विशाल भावना से उनको भी बाँटता है जो किसी न किसी कारण से दूसरों की सहायता के अधिकारी हैं अर्थात् जिन्हे उन वस्तुओं को आवश्यकता है किन्तु उन्हें वे प्राप्त नहीं है।

इसके अतिरिक्त झरने मे एक और गुण भी है अर्थात्-वह सदा एक धारा से बहता रहता है। जिस धारा से आज बह रहा है, उसी धारा से कल भी बहता था और भविष्य मे भी ऐसा ही दिखाई देगा। इसीलिये वह सदा प्रफुल्लित और मुदित रहता है। किन्तु जब हम अपने जीवन की धारा की ओर दृष्टि पात करते है तो अनुभव करते है कि हमारे जीवन की धारा स्वल्प काल मे ही पलटती रहती है। हमारे जीवन की कोई एक निश्चित धारा ही नहीं है। धन्य है यह निर्भर जो एक ही धारा से निरन्तर बहता रहता है और इसीलिये वह निर्जीव होता हुआ भी जीवित है। एवं जो

मनुष्य अपने जीवन का कोई नियम स्थिर करते हैं, अपने जीवन के लक्ष्य को सन्मुख रख कर उसे नियम-बद्ध करके एक धारा से चलाते हैं वही जीवित कहे जाने के अधिकारी है।

झरने में एक और गुण भी है जो विशेष रूप से हमारे लिये उपादेय है अर्थात्—यह झरना अपनी समस्त सम्पत्ति किसी बड़ी नदी को सौंप देता है और उसके साथ हो कर चलता है। तत्पश्चात् समुद्र में विलीन होकर महान् बन जाता है वहाँ पहुँच कर वह क्षुद्र झरना नहीं रहता अपितु अगाध और अथाह सागर बन जाता है। इस प्रकार वह एक नया जीवन, नही नहीं एक दिव्य जीवन प्राप्त कर लेता है। एवं जो मनुष्य महापुरुष रूपी नदों की संगति पाकर परमात्मा रूपी महासागर में मिल कर सच्चा जीवन अर्थात्—अमर पद प्राप्त करता है। ऐसा ही मनुष्य जीवित कहे जाने का अधिकारी है। इसके विपरीत जो मनुष्य क्षुद्र अवस्था में ही जन्म लेता है और क्षुद्र अवस्था में ही अपने अमूल्य जन्म को व्यतीत करता है उसे तो मृतक ही कहना चाहिये।

नाम चिन्तन

अब दूसरा लक्षण जीवित व्यक्ति का सुनिये-

कहै कबीर पुकारि के यह कलऊ व्यवहार।
एक नाम जाने बिना बूड़ि मुआ संसार॥

इस वाक्य से हमे ज्ञात होता है कि जो एक प्रभु को जानने की चेष्टा नहीं करता वह भी मृतक ही है। और भी कहा है कि-

आदि नाम निज मूल है और मन्त्र सब डार।
कहै कबीर इक नाम बिन बूड़ि मुआ संसार॥

प्रभु चिन्तन का फल क्या होता है। उसका लाभ क्या पहुँचता है। क्योंकि प्राय: मनुष्य काम वही करने के लिए तत्पर होता है जो लाभप्रद हो सुखदायक हो और हितकर हो। हाँ वह लाभ भी सुन लीजिए।

जबहिं नाम हृदय धरा, भया पाप का नास।
मानो चिनगी आग की परी पुरानी घास॥
नाम जो रत्ती एक है पाप जो रत्ती हेजार।
आध रत्ती घट सचरै, जार करैं सब छार॥

मनुष्य और सब प्रकार के धनों का सचय करता है। अनेक प्रकार के धनों के भण्डार एकत्रित करता है किन्तु नाम धन की ओर इसका ध्यान नहीं जाता। वह नहीं जानता कि वास्तविक धन है ही नाम धन। कहा है कि—

कबीर सब जग निर्धना धनवन्ता नहिं कोय।
धनवन्ता सो जानिए सत्तनाम धन होय॥

जाकी गाँठी नाम है, ताके है सब सिद्धि।
कर जोरे ठाड़ी सबै अष्ट सिद्धि नव निद्धि॥

कई मनुष्यों को अपनी सुन्दर काया का मान होता है। वे अपने सौन्दर्य पर गर्वित रहते हैं। कुरूप जनों से घृणा करते हैं, उनको तुच्छ जानते हैं किन्तु वे नहीं समझते कि नाम के बिना अर्थात्-प्रभु चिन्तन के बिना सुन्दर देह का मोल भी तीन कौडी नहीं होता। उनसे वह मनुष्य श्रेष्ठ है जिसकी देह गली हुई है किन्तु वह ईश्वर भक्त हो, जैसे कहा है कि–

नाम जपत कुष्टि भला चुई चुई परै जो चाम।
कंचन देह केहि काम की जा मुख नाहीं राम॥

प्राय: मनुष्य संसारी सुखों मे मग्न होकर भगवान को भूल जाता है। संसारी सुखों की अहिफेन अर्थात्–अफीम उसे वेसुध बना देती है। मदोनमत्त होकर उसे अपने हित अहित का विवेक नहीं रहता। किन्तु जिनको नाम के रस का, नाम के रहस्य का भान हो जाता है वे केवल ससारी सुखो की अभिलाषा नहीं करते अपितु दु.ख का आवाहन करते हैं ताकि दु:ख में प्रभु का स्मरण चलता रहे। वे कहते हैं कि–

सुख के माथे सिल परै नाम हृदय से जाय।
बलिहारी वा दु ख की पल पल नाम रटाय॥

किन्तु याद रखो नाम जपने वाले को दु:ख आता ही नहीं। वह कभी संतप्त नहीं होता इसीलिए यह सिद्धान्त है कि–

दुख मे हर को हर भजे सुख में भजे न कोय।
जो सुख में हर को भजे तो दुख काहे ते होय॥

यदि ईश्वर भक्तों को अपने पूर्व कर्मों के फल स्वरूप कभी

दु ख आ भी जाये तो वे व्याकुल नहीं होते, हाहाकार नहीं करते, आकुलता, अचैन अथवा अधीरता या हड़वडी उनके निकट नहीं आती, वे उसे अपना ही कर्मफल जानकर पूर्ण शान्त रहते हैं और कहते हैं कि–

देख दु:ख का वेश धरे मैं नहीं डरूँगा तुमसे नाथ।
जहाँ दु ख वहाँ देख तुम्हें मैं पकड़ूँगा जोरों के साथ॥
नाथ छुपा लो तुम मुँह अपना चाहे अति अँधियारे में।
मैं लूँगा पहचान तुम्हें इक कोने में जग सारे में॥
रोग, शोक, धन-हानि, दु:ख, अपमान घोर अति दारुण क्लेश
सव मे तुम, सवही है तुम में, अथवा सब तुमरे ही वेश॥
तुमरे विन नहीं कुछ भी जव तव, किस कारण से पुन. डरूँ।
सज साज मृत्यु का भी यदि आओ चरण पकड़ सानन्द मरूँ॥

हमारा नाम जप निरन्तर अनवरत चलना चाहिये। वेशक हम संसार के कार्य भी करे। किन्तु हमारे मन की डोर भगवान् से जुड़ी रहनी चाहिये। जैसे जव पनिहारियाँ जव पानी लेने जाती है तो सिर पर पानी के भरे हुए दो-दो तीन-तीन वासन उठाकर चलती है। वे आपस मे वातचीत करती है किन्तु उनका ध्यान पानी के मटकों में रहता है जैसे कहा है कि–

सुमिरन की सुधि यों करो ज्यों गागर पनिहार।
हालै डोलै सुरत मे कहै कवीर विचार॥

या हमे प्रभु चरनों का ध्यान इस प्रकार रहना चाहिये जैसे–यदि एक अकिंचन निर्धन पुरुप को कुछ धन मिल जाये तो वह वार-वार उसकी सँभाल कर लेता है कि कहीं गिर तो नहीं पड़े। जैसे कहा है कि–

सुमिरन की सुधि यों करो जैसे दाम कंगाल।
कहै कवीर विसरै नहीं पल-पल लेत सँभाल॥

हा, यह बात न भूलना चाहिये कि नाम जप हृदय से होना चाहिये अर्थात् जिसकी याद करते हैं उसकी आज्ञा को भी स्मरण रखें और अपना जीवन उसके आदेश के अनुसार बनायें अन्यथा कोई लाभ नहीं पहुँच सकता। जैसे कि कहा है कि-

माला फेरत जुग गया फिरा न मन का फेर।
करका मनका डार दे, मन का मनका फेर॥
माला तो कर में फिरै जीभ फिरै मुख माहिं।
मनुवाँ तो दस दिसि फिरै यह तो सुमिरन नाहिं॥

इसलिए यदि हम जीवितों की सूची में नाम लिखवाना चाहते हैं तो हमें चाहिये कि संसारी पदार्थों से मोह न करते हुए संसारी सुखों की ओर से ला परवाह रहते हुये सदैव हृदय की शुद्ध भावना से भगवान् का चिन्तन करें।

जैन धर्म की महत्ता

मनुष्य जीवन में चरित्र का अपना एक विशेष स्थान है। वास्तव मे धर्म का ही दूसरा नाम चरित्र है, जो मनुष्य के लिये अत्यावश्यक तथा परमोपयोगी है। अत' प्रत्येक धर्म की मानसिक शिक्षा और आचार विचार का ध्येय 'चरित्र गठिन' ही होता है। वे प्राणी जो संसार को भोग विलास का क्षेत्र समझते है और जो अचार विचार को अनावश्यक समझ कर किसी विशेष कार्य प्रणाली का अनुसरण कर जगत मे तथा परलोक मे सफलता प्राप्त करना बताते है या स्वय ऐसा करने की चेष्टा करते हैं, वे बडी भारी भूल करते हैं और अपने आप को धोखे मे डालते हैं।

संसार मे मनुष्य जीवन को सफल बनाने के लिये कई साधनों की आवश्यकता होती है। कई प्रकार के बल इस विषय मे सहाई होते है जैसे कि–बाहुबल,' धनबल, जनबल, विद्याबल, राजबल, आत्मबल। परन्तु वास्तविक पूर्णता तब ही प्राप्त हो सकती है जब हम चरित्र बल प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे। जब हम अपने आचार विचार उच्च कोटि के बनायेगे तथा आत्म सुधार की ओर दृढ़ संकल्प से अग्रसर होंगे। अन्य सारे बल चरित्र बल के बिना निरर्थक हैं। एक कवि ने कहा है कि–

मतिमान हुए, धृतिमान हुए, गुनवान हुए बहु खा गुरु लाते।
इतिहास भूगोल खगोल पढे नित्य न्याय रसायण में कटी रातें॥
रस पिङ्गल भूषण भाव भरी गुण सीख गुणि कविता करी घाते।
यदि मित्र 'चरित्र' नचारू हुआ धिक्कार हैं सब चतुराई की बाते॥

जैन धर्म ने चरित्र पर बहुत बल दिया है। जैन धर्म ने मनुष्य कल्याण के तीन अङ्ग माने हैं या इन्हें हम त्रिविध साधन भी कह सकते हैं। वे हैं सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, तथा सम्यक् चरित्र।

जैसे पूर्व लिक्खा गया है। चरित्र का ही दूसरा नाम धर्म है। जैन शास्त्रों ने धर्म को ही मनुष्य का एक मात्र सहारा माना है। धर्म को मनुष्य के कल्याण का मुख्यतम साधन कहा है। अन्य सभी साधन धर्म के ही अङ्ग हैं। या उसी पर आश्रित हैं। एक गाथा में धर्म के विषय मे यों कहा है कि—

धम्मो ताणं धम्मो सरणं धम्मो गइ पइट्ठाय।
धम्मेण सुचरिएणय गम्मइ अजरामरं ठाणं॥

(तंदुलवेयालिय गाथा ३२)

भावार्थ—धर्म त्राण तथा शरण रूप है, धर्म ही गति है तथा धर्म ही आधार है। धर्म की सम्यक् आराधना करने से जीव अजरामर स्थान अर्थात्–मोक्ष स्थान प्राप्त करता है।

अब हमको यह देखना है कि वह धर्म क्या वस्तु है, उसके क्या लक्षण हैं, उसके कौन-कौन से प्रधान अङ्ग हैं, उसे क्यों ग्रहण करना चाहिये और कैसा मनुष्य उसे किस अवस्था मे ग्रहण कर सकता है अर्थात्–धर्मात्मा कौन होता है और धर्म मार्ग पर चलने का उसे क्या फल मिलता है। यह विषय ही इस समय जैनागमों के प्रवचनानुसार निरूपण किया जाता है।

जैनागम ऐसी शिक्षाओं से "जिनसे मनुष्य अपने कल्याण की परकाष्ठा पर पहुँच सके, भरे पड़े हैं। इस समय थोड़े से विषय लेकर उन शिक्षाओं का दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है।

जैनागम मनुष्य जीवन के विविध अङ्गों पर क्या प्रकाश डालते हैं, मनुष्य जीवन का विकास किस रूप मे मानते हैं और मनुष्य जीवन के ध्येय को किस रूप मे वता कर उस पर आरूढ़ होने के क्या साधन तथा उपाय वताते हैं, ये वाते संक्षेप से इस भाषण में वताने का प्रयत्न किया जाता है।

किसी धर्म की सबसे वडी महानता यही होती है कि वह संसार मे प्राणि मात्र के लिये प्रेम और सहानुभूति करना सिखाए। न्याय पथ पर चलने की शिक्षा दे। यह सव कुछ होते हुए वह किसी अन्य धर्म की निन्दा न करे। किसी दूसरे मत की बुराई न करे। किसी अन्य सम्प्रदाय के दोप न निकाले। जैन आगमो में इस वात को स्पष्ट रूप से वर्णन किया है। यथा:—

णकिंचि रूवेणऽभिधारयामो सदिट्ठिमग्गं तु करेमु पाउं।
मग्गे इमे किट्टिए आरिएहिं अणुत्तरे सप्पुरिसेहिं अंजू॥
(सू० कृ० ६-१३)

अर्थात्—हम किसी के रूप और वेप आदि की निन्दा नहीं करते हैं किन्तु अपने दर्शन के मार्ग का प्रकाश करते हैं यह मार्ग सर्वोत्तम है और आर्य्य सत्पुरुषो के द्वारा निर्दोष कहा गया है।

इस गाथा मे जैन धर्म ने उदारता के गुण को खुले शब्दो मे प्रकट किया है। होना भी यही चाहिये कि अपने धर्म को उच्चता दिखाई जाये परन्तु दूसरे के धर्म पर आक्षेप न किया जाये।

यही नहीं किन्तु जैन धर्म उन लोगो की प्रशंसा भी नहीं करता जो दूसरे धर्मों को बुरा कहते है या उनका खण्डन करते है। ऐसा करना एक महा दोप है और इसी दोप के

कारण आज इतना बखेड़ा मच रहा है। इतना विवाद तथा द्वेष हो रहा है। इस विषय में जैन शास्त्र कहते हैं कि—

सयं सयं पसंसंता परं वयं।
जेउ तत्थ विउम्संति संसारं ते विउस्सिया॥
(सू० कृ० १-२-२३)

अर्थात्–अपने अपने मत की प्रशंसा और दूसरों के वचन की निन्दा करने वाले जो अन्य तीर्थी अपने मत की स्थापना और पर मत के खण्डन करने में विद्वत्ता दिखाते हैं वे संसार में दृढ़ रूप से बंधे हुए हैं।

Religions Tolerance धार्मिक सहिष्णुता किसी धर्म की महानता का पहला लक्षण है। दूसरा लक्षण किसी धर्म की महानता का यह है कि वह आत्मिकोन्नति के लिये पुरुष और स्त्री मे कोई भेद या अन्तर न बताये। स्त्री को भी अपनी आध्यात्मिक उन्नति का पूरा-पूरा अधिकार दें। ऐसा नहीं कि स्त्री को हीन समझा जाये और उसे विशेष शास्त्रों के पढ़ने का भी अधिकार न हो। जैन शास्त्र दोनों के लिये समान अधिकार देता है। जैन शास्त्रों में दोनों की उन्नति का पूरा-पूरा वर्णन है। देखिये पुरुषों की उन्नति के विषय मे एक स्थान पर लिखा है कि—

निम्ममो निरहंकारो, निस्संगो चतगारवो।
समो अ सव्व भूएसु तसेसु थावरेसु अ॥ (उत्त० १६-८६)

अर्थात्–ममत्व और अहंकार से रहित तथा संगरहित एवं तीनों से रहित वह मृगापुत्र त्रस और स्थावर आदि सर्व प्रकार के जीवों पर समभाव रखने वाला हुआ।

अब स्त्रियों की उन्नति का वृतान्त सुनिये—

अहसा रायवरकन्ना, सुसीला चारुपेहिणी।
सव्वलक्खणसंपन्ना विज्जुसोआमणिप्पभा॥ (उ० २२-७)

अर्थात्—वह राजवर कन्या सर्व लक्षण सम्पन्ना, अच्छे स्वभाव वाली, सुन्दर देखने वाली, परम सुशीला, परम विदुषी, तथा बहुश्रुत और प्रदीप्त बिजली के समान कान्ति वाली थी।

एक और स्थान पर लिखा है कि—

हंभो सद्दालपुत्ता ! समणोवासया ! अपत्थियपत्थया ! जाव न भजेसि तओ ते जा इमा अग्गिमित्ता भारिया धम्मसहाइया धम्मविइज्जिया धम्माणुरागरत्ता समसुहदुक्ख सहाइया, तं ते साओ गिहाओ नीणेमि। (उपा० सू० २३७)

देवताओं ने उसे निर्भय देखकर चौथी बार भी कहा कि—"हे सकडाल पुत्र श्रावक ! मौत को चाहने वाले ! यावत तू शील आदि को भंग नहीं करता तो तेरी यह धर्म में सहायता देने वाली, धर्म की वैद्य अर्थात्—धर्म को सुरक्षित रखने वाली, धर्म के अनुराग में रङ्गी हुई, दुख सुख में समान रूप से सहायता करने वाली जो अग्निमित्रा भार्या है उसे तेरे घर से लाता हूँ।

इस गाथा से भली भाँति प्रगट होता है कि जैन धर्म स्त्रियों को कितने आदर की दृष्टि से देखता है तथा उनका क्या जीवन लक्ष्य स्थापन करता है। स्त्री हो या पुरुष, वह तभी उन्नति कर सकता है जब उसे शिक्षा प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार हो। जैन धर्म मे उस धर्म के सर्वोत्तम शास्त्र जैनागम पढ़ने का पूर्ण अधिकार है। यही नहीं किन्तु स्त्रियें ईश्वर पदवी तक पा सकती है। जैन धर्म के चौवीस तीर्थंकरो मे उन्नीसवें तीर्थंकर श्री मल्लीनाथजी स्त्री थे। ऐसे ही अब भी हर एक स्त्री पुरुष को समस्त अधिकार समान है, वे उन्नति की ऊपरि से ऊपरि शिखर तक पहुँच सकते है।

केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में ही स्त्री का पूर्ण अधिकार नहीं माना गया किन्तु राज कार्य्यों मे भी उनको भाग लेने का

वर्णन जैन शास्त्रों में आता है। देखो जीवाभिगमसूत्र-तीसरी प्रति पत्ति-भवनपति देवाधिकार जहाँ लिक्खा है कि-देवताओं के साथ देवियाँ भी राज कार्य्य में सम्मिलित होकर अपनी सम्मति देती है। तीसरी महानता किसी धर्म की यह होती है कि वह मनुष्य मात्र की एक ही जाति माने। मनुष्यों को केवल किसी कुल विशेष में जन्म लेने से ऊँच तथा नीच मानना धर्म को कलूषित करता है। ऊँच तथा नीच होना मनुष्य के कर्मों पर निर्भर है। शुभ कर्म करने वाला मनुष्य पातकी नहीं हो सकता, यद्यपि उसका जन्म किसी कुल में हुआ हो। तिरस्कार करने योग्य केवल पाप होता है मनुष्य नहीं। जैन धर्म मानता है कि जैसे मैल के धोये जाने पर वस्त्र स्वच्छ हो जाता है ठीक ऐसे ही कर्म बन्धन को तोड देने से हर एक कुल में जन्म लेने वाला मनुष्य आत्मिक उन्नति के ऊँचे से ऊँचे शिखर पर चढ सकता है। उसका कुल उसके उन्नति मार्ग में बाधक नहीं हो सकता। देखिये लिक्खा है कि—

जे माहणो खत्तियजायए वा, तहुग्गपुत्ते तह लेच्छई वा।
जे पव्वइए परदत्तभोई गोत्तेण जे थब्भति (थभभि) माणबद्धे॥
(सू० कृ० १३-१०)

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, उग्रपुत्र अथवा मलेच्छ जाति वाला जो पुरुष दीक्षा लेकर दूसरे का दिया हुआ आहार खाता है और अपने उच्च गोत्र का अभिमान नहीं करता है वही पुरुष सर्वज्ञ के मार्ग का अनुगामी है। आगे भी कहा है कि—

न तस्स जाई व कुलं व ताणं णण्णत्थ विज्जाचरणं सुचिण्णं।
णिक्खम्म से सेवईऽगारिकम्मं ण से पारए होई विमोयणाए॥
(सू० कृ० १३-११)

अर्थात्-जाति और कुल मनुष्य को दुर्गति से नहीं बचा सकते। वस्तुतः अच्छी तरह सेवन किए हुए ज्ञान और चरित्र

के सिवाय दूसरी कोई वस्तु भी मनुष्य को दुख से नहीं बचाती है। जो मनुष्य प्रव्रज्या लेकर भी फिर गृहस्थ के कर्मों का सेवन करता है, वह अपने कर्मों को क्षय करने मे समर्थ नहीं होता है। आगे भी देखिए-

कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होई खत्तिओ।
वईसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥
(उत० २५-३३)

अर्थात्-कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है कर्म से वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है।

उपर्युक्त गाथाओं में कितनी स्पष्टता से बताया गया है कि मनुष्य का ब्राह्मण क्षत्रिय आदि होना उसके कर्मों पर निर्भर है। इसी से सच्चा वर्ण बनता है।

चौथी महानता किसी धर्म की यह होती है कि वह मनुष्य की उन्नति को किसी आश्रम विशेष से सम्बन्धित न करे अर्थात् यह न कहे कि संन्यासी ही मोक्ष पद का अधिकारी है। मोक्ष अथवा परम पद पाने का अधिकार हर एक आश्रम वाले को है। जैन धर्म मे दो आश्रम हैं अर्थात्-गृहस्थ तथा साधु। परन्तु अपने उत्तम जीवन से दोनों ही कल्याण पाने के अधिकारी माने गये हैं।

गारं पिअ आवसे नरे अणुपुव्वं पाणेहिं संजए।
समता सव्वत्थ सुव्वते देवाणं गच्छे सलोगयं ॥
(सू० कृ० २-३-१३)

अर्थात्-जो पुरुष गृह में निवास करता हुआ भी क्रमशः श्रावकधर्म (गृहस्थ धर्म) को प्राप्त करके प्राणियों की हिंसा से निवृत होकर रहता है तथा सर्वत्र समभाव रखता है वह सुव्रती पुरुष देवताओं के लोक मे जाता है। और भी कहा है कि-

एवं सिक्खा समावन्ने, गिहि वासे वि सुव्वए।
मुच्चई छविपव्वाओ, गच्छे जक्खसलोगयं॥
(उत्त० ५-२४)

अर्थात्-इस प्रकार शिक्षायुक्त सुव्रती जीव गृहस्थाश्रम में रहता हुआ भी इस औदारिक शरीर को छोड़ कर यक्ष के लोक-देवलोक को चला जाता है। आगे और कहा है कि-

ताणि ठाणाणि गच्छन्ति, सिक्खित्ता संजमं तवं।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा, जे सन्ति परिनिव्वुडा॥
(उत्त० ५-२८)

अर्थात्-पूर्वोक्त स्थानों को वे ही साधु अथवा गृहस्थ प्राप्त होते हैं जो कि संयम और तप के अभ्यास से कषायों से रहित हो गये हैं। अर्थात् जिनमें काम क्रोध आदि कषाय विद्यमान नहीं रहे।

इन गाथाओं से विदित होता है कि पापो को दूर करना, कर्म के मार्ग बन्द करना, संयम का जीवन व्यतीत करना ही कल्याण के साधन हैं न कि कोई विशेष वृत्ति। यही नहीं किन्तु जैन धर्म एक सयमी श्रावक या गृहस्थ को असयमी साधु से उत्तम मानता है। सुनिये—

सन्ति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा।
गारत्थेहिं य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा॥ (उत्त० ५-२०)

अर्थात्-एक एक साधुओं से तो गृहस्थों का संयम अच्छा है और सब गृहस्थों से साधुओं का सयम श्रेष्ठ है।

जैन धर्म इस बात को नहीं मानता कि केवल साधु के व्रत ले लेने मात्र से या साधु का वेश धारण करने मात्र से मनुष्य का कल्याण हो जाता है। कबीर जी ने कहा भी है कि—

साधु भया तो क्या भया माला पहरी चार।
बाहर वेश बनाया भीतर भरे अङ्गार॥

डाढ़ी मूँछ मुड़ाय के हुआ है घोटम घोट।
अरे मन को क्यों नहीं मूँडिया जा में सारा खोट॥

जैन धर्म ऐसा ही मानता है और स्पष्टतया इस बात की घोषणा करता है कि वेश विशेष बनाना ही पर्याप्त नहीं है। देखिये आगे क्या कहा है–

चीरा जिणं नगिणिण, जड़ी संघाडि मुण्डिणं।
एयाणिवि न तायन्ति, दुस्सीलं परियागयं॥
(उत० ५-२१)

अर्थात्–जिस जीव ने दुष्ट प्रव्रज्या का ग्रहण किया हुआ है उसके वस्त्र, मृगचर्म, जटाधारी होना, केवल गोदड़ी रखना और सिर मुँडाकर रखना, इत्यादि नानाविध वेष कभी रक्षक नहीं हो सकते।

एक हिन्दी कवि कहता है कि—

जंगल में जाए कहा, पान फल खाए कहा,
बार के बढ़ाए कहा, अङ्ग रहे नङ्गा है।
भोग के विहाय कहा, जोग के जगाय कहा,
तन को तपाय कहा, वस्त्र गेरू रङ्गा है।
द्वारका को धाय कहा, छाप के लगाय कहा,
मूँड मुँडवाय कहा, छार लायो अङ्गा है।
जीवा जग माहि ऐसे, भेख धरे होत क्या,
होत मन शुद्ध तब, गेह माहीं गङ्गा है॥

जैन धर्म का यही मत है। वह इस सिद्धान्त को मानता है कि जब तक मन शुद्ध होकर पाप दूर न हों तब तक उपवास आदि कुछ कल्याण नहीं कर सकते।

जइ विय णिगणे किसे चरे जइविय भुंजिय मासमंतसो।
जे इह मायाइ मिज्जई आगंता गब्भाय णंतसो॥
(सू० कृ० २-१-६)

अर्थात्-जो पुरुष कषायों से युक्त है वह चाहे नङ्गा और कृश होकर विचरे अथवा एक एक मास के बाद भोजन करे परन्तु वह अनन्त काल तक गर्भवास को ही प्राप्त करता है।

कई संप्रदाय केवल मात्र नाम उच्चारण अथवा जप को ही कल्याण का साधन मानते हैं और पठन पाठन से ब्राह्मण बन जाना स्वीकार करते हैं, परन्तु जैन धर्म इसमें भी विश्वास नहीं रखता। वह आंतरिक शुद्धि को प्रधानता देता है। बाहरी वेश भूषा तथा रहन सहन को इतनी महानता नहीं देता। देखिये-

नवि मुण्डिएण समणो, न ओंकारेण बम्भणो।
न मुणी रण्णवासेणं कुसचीरेण न तावसो॥
(उत० २५-३१)

अर्थात्-केवल शिर मुँडाने से कोई श्रमण नहीं बन सकता केवल ओंकार मात्र कहने से ब्राह्मण नहीं हो सकता और जंगल में रहने मात्र से कोई मुनि तथा कुशा आदि के वस्त्र धारण कर लेने से कोई तापस-तपस्वी नहीं हो सकता।

यही नहीं कि जैन धर्म इन वेश के आडंबरों तथा भेष की बनावटों की अवहेला करके चुप कर गया हो। नहीं उसने वह साधन भी वर्णन किये हैं जो मनुष्य को सच्चा ब्राह्मण तथा वास्तविक मुनि और तपस्वी बनाते हैं। यदि यह न बताया जाता तो बात अधूरी रह जाती। वह आतरिक साधन कौन से हैं सुनिये-

समयाए समणो होइ, बम्भचेरेण बम्भणो।
नाणेण य मुणी होइ तवेण होइ तावसो॥
(उत० -५-३२)

अर्थात्-समभाव से श्रमण ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तप में तपस्वी होता है।

जातियो मे ब्राह्मण आदर के योग्य समझे गये हैं और है भी ठीक क्योंकि वे अपनी योग्यता, विद्वता तथा आचार श्रेष्ठता के कारण दूसरों के लिये पथप्रदर्शक होते हैं। परन्तु आज ब्राह्मण शब्द का जो निरादर हुआ है वह शायद ही किसी काल मे हुआ हो। आज एक मनुष्य एक विशेप कुल मे जन्म ले लेने मात्र से ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी वन जाता है, चाहे वह निर्त्तर भट्टाचार्य्य ही क्यों न हो और शुद्धाचार का उसमें लेशमात्र भी न हो। आज के ब्राह्मण कहलाने वालों के विपय मे ठीक किसी ने कहा है कि-"लारी वीवी ऐसा नर, पीर वहिशानी ववरची खर।" परन्तु जैन धर्म ब्राह्मण किसे मानता है। वह भी सुनिये-

जायरूवं जहामट्ठं निद्धन्तमलपावगं।
रागद्दोसभयाईयं तं वयं वूम माहणं॥

(उत० २५-२१)

अर्थात्-जैसे अग्नि के द्वारा शुद्ध किया हुआ स्वर्ण तेजस्वी और निर्मल हो जाता है तद्वत रागद्वेप और भय से जो रहित है उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

एक और गाथा जो सच्चे ब्राह्मण के लक्षण वताती है, उसका भी यहाँ उल्लेख कर देना अनुचित न होगा। यदि इन गुणों के धारण करने वाले ब्राह्मण आज इस देश मे हों तो उसका इतना अधोपतन कभी न हो।

जहा पोमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तं कामेहिं तं वयं वूम माहणं॥

(उत० २५-२७)

अर्थात्-जैसे कमल जल मे उत्पन्न होता है परन्तु वह जल से उपलिप्त नहीं होता। इसी प्रकार जो काम भोगों से अलिप्त

है उसी को हम ब्राह्मण कहते हैं। म० बुद्ध भी ब्राह्मण के गुण कुछ ऐसे ही बताते हैं यथा—

झायिं विरजमासीनं कतकिच्चं अनासवं।
उत्तमत्थं अनुपत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥
(धम्म पद २६-४)

अर्थात्-जो ध्यानी, दोष रहित, कृतकार्य्य, विषयरहित और उत्तम उद्देश्य को पाने वाला है, उसी को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

अक्कोधन वतवन्त सीलवन्तं अनुस्सुतं।
दन्तं अन्तिमसारीरं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥
(धम्म पद २६-१८)

अर्थात्-मैं उसको ब्राह्मण कहता हूँ जो क्रोध रहित, कर्त्तव्य परायण, शीलवन्त, इच्छा रहित, दमन युक्त और अन्तिम शरीर वाला है (मुक्ति पाने वाला है)

महाभारत में भी ब्राह्मण के ये गुण लिक्खे हैं यथा-

यः स्याद्दान्तः सोमपश्चार्य शीलः सानुक्रोशः सर्वसहोनिराशीः।
ऋजुर्मृदुरनृशंसः क्षमावान्स वै विप्रोनेतरः पाप कर्मा॥
(शान्ति पर्व ६३ ८)

अर्थात् जो धार्मिक, सुशील, दयालु, सहनशील, ममता रहित, सरल, कोमलता युक्त, निष्कपट, क्षमावान और निष्पाप हो, वही ब्राह्मण है।

सिख धर्म के गुरु ग्रंथ साहिब में भी ब्राह्मण के लक्षण कहे गये हैं, जिनका यहाँ पर उल्लेख किया जाता है। यथा—

सो ब्राह्मण जो विन्दे ब्रह्म।
जप तप संजम कमावै कर्म॥
सील सन्तोख का रक्खे धर्म।

वंधन तोड़े होवै मुक्त ।
सोई ब्राह्मण पूजण जुग्त ॥
(सवईयो वार ते वधीक)

जव इस देश मे ऐसे ब्राह्मण थे तव यह सारे देशों का शिरोमणि माना जाता था। यह सारे संसार का गुरु तथा पथ-प्रदर्शक था। आज सच्चे ब्राह्मणों का अभाव है तथा मायामय, रूढ़ियों से ग्रसित, झूठे, पाखण्डी, आडम्बर-युक्त मनुष्यो ने उनका स्थान ले लिया है। इनमे न तो ब्राह्मणों की विद्या है। न उनका तप है, न त्याग है। हॉ स्वार्थ, मतान्धता तथा अत्याचार अवश्य है। वास्तविक धार्मिक जीवन लोप हो चुका है। शुद्धाचार के स्थान मे अनेक प्रकार की कुप्रथाये प्रचलित हो गई हैं।

जैन धर्म पवित्र जीवन की महानता मानता है, मायामय जीवन को कोई स्थान नहीं देता। यदि कोई ब्राह्मण या भिक्षु भी मायामय जीवन वाला है, तो जैन धर्म उसे प्रतिष्ठित नहीं कहता।

जेयापि वहुस्सुए सिया, धम्मियमाहण भिक्खुए सिया।
अभिणूमकडेहिं मूच्छिए तिव्वं ते कम्मेहिं किच्चती ॥
(सू० कृ० २-१-७)

अर्थात्—मायामय अनुष्ठान मे आसक्त पुरुष चाहे वहुश्रुत हों, धार्मिक हों, ब्राह्मण हों, चाहे भिक्षुक हां, वे कर्म के द्वारा अत्यन्त पीड़ित किये जाते हैं।

आज यह प्रथा चल गई है कि जो भी चार शब्द वोल सकता है—वह महोपदेशक वन वैठता है। समाज भी ऐसे ही उपदेशकों के उपदेश सुनने के लिये उत्सुक रहती है। यह नहीं देखा जाता है कि उसके गुण क्या है, उसका आचरण

कैसा है, उसका व्यवहार किस प्रकार का है। ऐसे उपदेशक का प्रवचन कानों को तो भला प्रतीत होता है परन्तु हृदय पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। इसी कारण से जैन धर्म ने उपदेष्टा के गुण भी वर्णन किये हैं। देखिये—

आयगुते सयादन्ते छिन्नसोए अणासवे।
जे धम्मं सुद्धमक्खाति पडिपुन्नमणेलिसं ॥
(सू० कृ० ११-२४)

अर्थात्-मन वचन और काया से आत्मा को पाप से वचाने वाला, जितेन्द्रिय एवं संसार की मिथ्यात्व आदि धारा को काटा हुआ आश्रव रहित पुरुष परिपूर्ण उपमारहित शुद्ध धर्म का उपदेश करता है।

अहोऽविसत्ताणविउट्टणं च जो आसवं जाणति संवरं च।
दुक्खं च जो जाणति निज्जरं च, सो भासिउमरिहइ किरियावादं॥
(सू० कृ० १२-२१)

अर्थात्-नरकादि गतियों में जीवों की नाना प्रकार की पीड़ा को जो जानता है तथा जो आस्रव संवर, दु.ख और निर्जरा को जानता है वही ठीक-ठीक आस्तिकवाद को वता सकता है।

आज कथा उपदेश को या तो आजीविका का एक साधन वना लिया गया है। अथवा उसके द्वारा सत्कार तथा मान ... ेष्टा की जाती है। जैन धर्म इस परिपाटी को आदर की दृष्टि से नहीं देखता। उपदेशकों मे एक और दोष है कि वे उपदेश करते समय यह नहीं देखते कि श्रोतावर्ग कैसा है, जन उपस्थिति किन विचारों की है। वे लोग जो मुँह मे आये कह डालते है। कई वार इस असावधानी के वड़े भयंकर परिणाम निकलते हैं। जैन धर्म ने इन दोनों

विषयों में नियम निरधारित किये है जो कि अनुकरणीं करनें योग्य है। देखिये—

भयं समेच्चा अदुवाऽविसोच्चा, भासेज्ज धम्मं हिययं पयाणं।
जे गरहिया सणियाणप्पओगाए ताणि सेवंति सुधीरधम्मा॥
(सू० कृ० १३–१९)

अर्थात्—धर्म को अपने आप जानकर अथवा दूसरे से सुनकर प्रजाओं के हित के लिए उपदेश करे। और जो कार्य निन्दित है और जो पूजा, लाभ और सत्कार आदि के लिए किया जाता हैं उसे धीर पुरुष नहीं करतें हैं।

केसिंचि तक्काइ अवुज्झ भावं, खुद्दंपि गच्छेज्ज असद्दहाणे।
आउस्स कालाइयारं वघाए लद्धाणुमाणे य परेसु अट्ठे॥
(सू० कृ० १३–२०)

अर्थात्—अपनी बुद्धि से दूसरे का अभिप्राय न समझकर धर्म का उपदेश करने से दूसरा पुरुष श्रद्धा न करता हुआ क्रोधित हो सकता है और क्रोध करके वह साधु (उपदेशक) का वध भी कर सकता है। इसलिए साधु (उपदेशक) अनुमान से दूसरे का अभिप्राय समझकर पीछे धर्म का उपदेश करे।

आज एक और कुरीति चल गई है जिससे स्त्री जाति का विशेषत बड़ा अधोपतन हो रहा है। ब्राह्मण या उपदेशक लोग हस्त रेखा देख कर या पाद चिह्न देख कर लोगों के भाग्य तथा प्रारब्ध बताने लगते है। आने वाले दुःखों का झूठ मूठ भय देकर उनके उपाय करने के बहाने से धन बटोरते है। इसी प्रकार की दूसरी अनेक मायामय बातें कह कर तथा त्रास दिखा कर अपनी स्वार्थ सिद्धि करते है। जैन धर्म इन बातो को अप्रशसनीय कहता है और बतलाता है कि

ऐसे पुरुष कर्म फल भोगने के समय किसी की शरण को प्राप्त नहीं होते। लिखा है कि-

जे लक्खणं सुविणं पउंजमाणो,
निमित्तकोऊहलसंपगाढे।
कुहेडविज्जासवदारजीवी,
न गच्छई सरणं तम्मि काले॥
(उत्त० २०-४५)

अर्थात्-जो पुरुष लक्षण वा स्वप्न आदि का प्रयोग करता है निमित्त और कौतुक कर्म में आसक्त है एवं असत्य और आश्चर्य उत्पन्न करने वाली विद्याओं तथा आश्रव द्वारों से जीवन व्यतीत करने वाला है वह कर्म भोगने के समय किसी की शरण को प्राप्त नहीं होता!

जैन धर्म इस बात का बड़ा विरोध करता है कि मनुष्य वास्तव में हो कुछ और दिखाये कुछ। उसके अन्दर तो हो एक छटांक परन्तु वह दिखाये एक मन, या अन्दर हो मल और दिखावे स्वर्ण।

आज कल प्रायः यह कहा जाता है कि मनुष्य की Pcivalı hip॰ (आत्म जीवन) और है, और Pcblie hipe (सामाजिक जीवन) और। अर्थात्-मनुष्य का हृदय भले ही कितना दूषित तथा कलुषित हो परन्तु वह समाजिक कामों में मुखिया बन सकता है। जैन धर्म इस सिद्धान्त को नहीं मानता। वह ऐसे मनुष्य को निन्दित बतलाता है जो करता कुछ और है और कहता कुछ और। ऐसे बनावटी भक्तों को जैन धर्म प्रशस्त तथा सराहने योग्य नहीं कहता। नहीं उस मनुष्य की श्लाघा तथा सराहना करता है जो एकान्त में पाप करके उसे छिपाता है। इस विषय मे जैन धर्म का मंतव्य यह है कि—

सुद्धं रवति परिसाए उह रहस्सं मिदुक्कडं करेति।
जाणति य णं तहाविहा माइल्ले महासढेऽयंति॥

(सू० कृ० ४-१-१८)

अर्थात्–कुशील पुरुष सभा मे अपने को शुद्ध वतलाता है परन्तु छिपकर पाप करता है इनकी अङ्गचेष्टा का ज्ञान रखने वाले लोग जान लेते है कि ये मायावी और महान शठ है।

वालस्स मंदयं वीयं जं च कडं अवजाणई भुज्जो
दुगुणं करेई से पाव पूयणकामो विसन्नेसी

(सू० कृ० ४-१-२६)

अर्थात्–उस मूर्ख पुरुष की दूसरी मूर्खता यह है कि वह पापकर्म करके फिर उससे इन्कार करता है। इस प्रकार वह दूना पाप करता है। वह संसार मे अपनी पूजा चाहता हुआ असयम की इच्छा करता है।

यह है जैन धर्म और उसकी सत्य शिक्षा। अब इसकी महानता का अनुमान आप स्वयं लगा सकते है।

मनुष्य जीवन की सफलता

मनुष्य जीवन के विषय में जैन धर्म के भाव बड़े विलक्षण तथा अद्भुत है। आज कल प्राय. इस सिद्धान्त का प्रहास किया जाता है कि संसार असार या क्षण भंगुर है। हमें कहा जाता है कि तुम संसार मे कोई प्रशस्त काम तभी कर सकते हो यदि तुम्हें संसार की स्थिरता मे विश्वास हो। अन्यथा जो मनुष्य अपने मरण को ही हर समय याद रक्खेगा तो उसके हृदय का विकास नहीं हो सकता अत' वह कोई लाभकारी कार्य्य नहीं कर सकता।

ऐसा कहने वाले महानुभाव यह नहीं समझते कि हृदय का विकास किस प्रकार होता है। पवित्रता तथा शान्ति के बिना हृदय कमल खिल ही नहीं सकता। जिस भाव की ये सज्जन स्थापना करना चाहते हैं, पश्चिम ने वही भाव ग्रहण किया है जिसका परिणाम आज हम देख रहे है। उनका सामाजिक जीवन अति भयानक वन गया है सुख तथा शान्ति नाम मात्र भी नहीं है नित्य के भयंकर युद्धों ने उन की दशा शोचनीय बना दी है और वह अब हमारी ओर देख रहे हैं बल्कि उच्चस्वर से कह रहे हैं कि आओ हमें इस भयंकर चाढ़ से निकालो। हम डूबतों को बचाओ। जब मनुष्य को अपनी मृत्यु याद न रहे तो पुण्य कर्मों की ओर उस का ध्यान नहीं जाता। पश्चिम के कई बुद्धिमानों ने भी जीवन की अस्थिरता पर प्रकाश डाला है। E' V. Cooke (ई० वी० कुक) लिखता है कि-

This life is a hollow bubble don't you know?
Just a painted piece of trouble, dont you know?
We come to earth to cry, we grow old and We sigh,
older still and we die, dont you know?

अर्थात्–क्या तुम्हें ज्ञात नहीं कि जीवन वायु का एक खोखला बुदबुदा है? क्या तुम नहीं जानते कि यह दुःख का एक चित्रित टुकड़ा है? क्या तुम्हें ज्ञात नहीं कि हम इस संसार में रोते हुए आते हैं। बड़े होते हैं तो ठंडी सांसें भरते हैं और पुनः और बड़े होकर इस संसार को छोड़ जाते हैं?"
पश्चिम के दो और प्रसिद्ध लेखकों का कथन यहाँ पर लिख देना भी अनुचित न होगा। सैंट आगसटाईन (Saint Augustine) लिखता है कि–

Trust not the world for it never payth what it promiseth

अर्थात्–संसार पर विश्वास न करो क्योंकि जिस वस्तु के देने की यह आशा दिलाता है। वह उससे कभी प्राप्त नहीं होती। (अर्थात् इसमें सुख नहीं है)

Sir Walter Scott (सर वालटर स्काट) लिखते हैं।

This world is a dream within a dream, and as we grow older, each step is an awakening The youth awakes as he thinks, from childhood, the full grown man despires the pursuits of youth as visionary; and the

old man looks on man hood as a feverish dream Death the last step? No. ! it is the last and final awakening

अर्थात्-यह संसार एक स्वप्न है। ज्यों ज्यों हम बड़े होते हैं हमें नई चेतनाएं प्राप्त होती हैं। बालकपन से निकल कर एक युवक अपने आपको सावधान हुआ प्रतीत करता है। एक प्रौढ़ अवस्था का मनुष्य अपनी युवाऽवस्था के कार्य क्षेत्रों को कल्पित मानता है और एक वृद्ध मनुष्य अपनी प्रौढ़ अवस्था को एक ज्वर युक्त स्वप्न विचार करता है। तत्पश्चात् मृत्यु आती है। क्या वह अन्तिम निद्रा होती है? नहीं वह अंतिम चेतना होती है। आखिरी बोध होता है।" ऐसे ही और अनेक पश्चिमी विद्वानों तथा दार्शनिकों के विचार वर्णन किये जा सकते हैं परन्तु लेख के लंबा होने के भय से ऐसा नहीं किया जाता है। यह संसार असार है, यह बात केवल जैन धर्म ही नहीं कहता। और धर्म शास्त्रों को देखने से भी हमें यही भान होता है। ग्रंथ साहिब में लिक्खा है कि—

जग रचना सब झूठ है जान लेहु रे मीत।
कहु नानक थिर न रहे ज्यों बालू की भीत॥

(शलोक म० ६)

एक और स्थान पर लिक्खा है—

धनवन्ता होय कर गरभावै।
तृण समान कछु संग न जावै॥
बहु लसकर ऊपर मानुख करे आस।
पल भीतर ता का होय विनास॥

क़ुरान की सूरत कहफ रुकू ६ आयत २ में लिक्खा है कि—

यह धन माल तथा कुटुम्बी एक खेल तमाशा हैं। सार वस्तु केवल शुभ कर्म ही हैं।

जैन धर्म भी मनुष्य को सावधान करता हुआ कहता है कि यह जीवन दुर्लभ है, बार बार नहीं मिलता। यह पल पल मे बीता जा रहा है, अत: चेतो प्रमाद मत करो।

दुमपत्तए पंडुयए जहा, निवडई राइगणाण अच्चए।
एवं मणुयाण जीवियं, समय गोयम मा पमायए॥

(उत० १०-१)

अर्थात्-जैसे रात्रि और दिवसों के अतिक्रम होने पर वृक्ष का पत्र पीला होकर गिर पडता है। इसी प्रकार का मनुष्यों का जीवन भी है। इस लिए हे गौतम समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्वपाणिणं।
गाढा य विवाग कम्मुणो, समयं गोयम मा पमायए॥

(उत्त० १०-४)

अर्थात्-निश्चय ही मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ है। और चिरकाल से प्राणियो का कर्मविपाक प्रगाढ़ है। अत हे गोतम समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

इस लिये हमे मानव जन्म को सफल बनाने के लिये अधिक से अधिक परिश्रम करना उचित है।
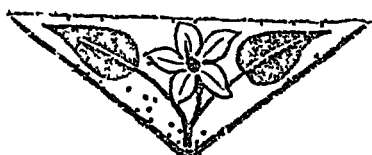
आत्मा ही मित्र है

संसार मे एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को अपना मित्र या शत्रु जानता है किन्तु मनुष्य को चेतावनी देकर शास्त्र कहता है कि यह ठीक है कि मनुष्य अपने शत्रुओं से भय खाता है। उनसे हानि अथवा क्षति पहुँचने का इसके मन मे भय लगा रहता है। कभी चोरों से डरता है कभी डाकूओ से। परन्तु शास्त्र इसे बतलाता है कि ऐ मानव ! बाहर के शत्रु तेरा इतना विगाड़ नहीं कर सकते जितना तेरा अपना ही आत्मा करता है। आंगल भाषा मे भी एक लोकोक्ति है Self is enemy is friend.

अर्थात् आत्मा ही शत्रु है और आत्मा ही मित्र है। एक उर्दू के कवि ने लिखा है कि–

न है शरीर कोई न कोई मुफसिद है।
तेरा ही नफस यह शर फसाद की जड़ है

एक और कवि ने लिखा है कि–

डर नहीं है गैर का जो कुछ है अपना डर है।
हमने जब खाई है अपने से जक खाई है॥

यही बात जैन शास्त्र भी कहता है। साथ ही यह भी बतलाया है कि आत्मा को दमन करना बड़ा कठिन है। परन्तु सुख की प्राप्ति इसको दमन करने से ही हो सकती है।

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पठि्ठय सुपठि्ठओ॥

(उत्त० २०–३७)

अर्थात्–हे इन्द्र भूति ! यह आत्मा ही दुखों का और सुखों का उत्पन्न करने वाला और नाश करने वाला है । यह आत्मा ही अपना मित्र है, और यह आतमा ही अपना शत्रु है । और यही आत्मा दुराचारी और सदाचारी है ।

अप्पा चेव दमेयव्वो अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दंतो सुही होइ अस्सिं लोऐ परत्थ य ॥
(उत्त० १–१५)

अर्थात्–हे इन्द्र भूति ! यह आत्मा ही दमन करने योग्य है, क्योंकि यह आत्मा ही निश्चय दमन करने में कठिन है । तभी तो आत्मा को दमन करता हुआ इस लोक में और परलोक में सुखी होता है ।

अतः सुखों की इच्छा करने वालों के लिये आवश्यक है कि वह अपने आत्मा अर्थात् मन को अपने आधीन करे ।

अब प्रश्न हो सकता है कि सुख की प्राप्ति तो आत्मा के दमन करने से हो सकती है, परन्तु मनुष्य को दुःख होता क्यों है । दुःख का कारण क्या है । जब तक किसी रोग का हेतु ज्ञात न हो, उसकी चिकित्सा कैसे हो सकती है । यह पता लगना चाहिये कि दुःख आता कहाँ से है । यह प्रश्न बड़ा गंभीर है । शास्त्र बतलाता है कि दुःख का कारण है कर्म । कर्म ही मनुष्य के बन्धन तथा दुःख का हेतु है । जैसे भी मनुष्य कर्म करता है वैसा ही फल भोगता है ।

कबीर जी कहते हैं कि–

कबीरा करनी आपनी कबहुँ न निष्फल जाए ।
सात समुद्र आड़ा पड़े मिले अगाऊ आए ॥

गुरु ग्रन्थ साहिब में भी सूही म० १ में लिक्खा है कि–

जैसा बीजे सो लुणे जो खट्टे सो खाए ।
तैसा तैसा काढ़िये जैसी कार कमाए ॥

भक्त तुलसीदास जी ने भी लिक्खा है कि-

करम मिटाए मिटत नहीं तुलसी किये विचार।
करतव ही के फेर है विधि सार असार ॥

इस लिए जैन शास्त्र भी इस विषय में स्पष्टता से लिखता है कि-

तेणे जहा संधिमुहे गहीए,
संकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इहं च लोए,
कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि ॥
(उत्त० ४-३)

अर्थात्-हे इन्द्रभूति ! जैसे पाप करने वाला चोर खात के मुँह पर पकड़ा जाकर अपने किए हुए कर्मों के द्वारा ही छेदा जाता है इसी प्रकार सारी प्रजा लोक, परलोक में किए हुए दुष्कर्मों के द्वारा दुःख उठाते हैं क्योंकि किये हुए कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं होता।

जो कर्म मनुष्य ने भला या बुरा किया है उस का फल अवश्य भोगना पड़ेगा। हिन्दु शास्त्र एक स्थान पर कहता है कि-

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृत कर्म शुभा शुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्प कोटि शतैरपि ॥

अर्थात्-जो भी भला या बुरा कर्म किया जाता है, उसका फल अवश्य भुगतना पड़ेगा। फल भोग के बिना करोड़ों सालों के पीछे भी कर्म क्षय नहीं होता। महाभारत में लिक्खा है कि-

यथा धेनु सहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्व कृतं कर्म कर्तारमनु गच्छति ॥
(शांति पर्व १८१-१६)

अर्थात्-जैसे हज़ारों गऊओं मे एक बछडा अपनी माता को पहचान लेता है, उसी प्रकार पहले (जन्मों में) किया हुआ कर्म अपने कर्ता को जा पकड़ता है। उपनिषदों मे भी लिक्खा है कि-

यथाकारी यथाचारी तथा भवति

(बृह० उप ४-४-५)

अर्थात्-मनुष्य के जैसे कर्म होते है और जैसा आचरण होता है, वह वैसा ही फल भोगता है।

अब शास्त्र एक और चेतावनी देता है कि यह तो निश्चय है कि किया हुआ कर्म बिनभोगे शम नही होता किन्तु यह बात भी भूल न जाना चाहिये कि एक मनुष्य जो मन्द कर्म औरों के लिये करता है, उस का फल वे नहीं भोगते जिन बन्धु जनों के लिये वह पाप कर्म किया जाता है। जैन शास्त्र कहता है कि-

संसारमावण्ण परस्स अट्ठा,
साहारणं जं च करेइ कम्मं।
कम्मस्सते तस्स उ वेयकाले,
न वंधवा वंधवयं उवेति॥

(उत्त० ४-४)

अर्थात्-हे गोतम! ससार के प्रपंच में फंसा हुआ यह आत्मा दूसरों के लिए, तथा स्व और पर के लिए जो कर्म करता है उस कर्म के भोगते समय वे कौटम्बिक जन बन्धुत्वपन को प्राप्त नहीं होते है।

गर्भ उपनिषद में भी कहा है कि-

यन्मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म शुभाशुभम्।
एकाकी तेन दह्यासि गतास्ते फल भोगिनाः॥

अर्थात्-मैं ने जिस परिवार के लिये भले बुरे कर्म किये

थे, वे तो सब चले गये । मैं अकेला उनके फल से जल रहा हूँ। इसी बात को शास्त्र कुछ और स्पष्टता से कहता है ता कि यह विचार मनुष्य के मन में दृढ़ता से बैठ जाये कि-

न तस्स दुकखं विभयंति नाइओ,
न मित्तवग्गा न सुया न बन्धवा ।
इक्को सयं पच्चणु होइ दुक्खं,
कत्तार मेव अणुजाइ कम्मं ॥

(उत्त० १३-२३)

अर्थात्-हे गोतम ! उस पाप कर्म करने वाले के दुख को स्वजन वगैरह भी नहीं विभाजित कर सकते हैं और न मित्रवर्ग, न पुत्रवर्ग, न बन्धुजन कर्मों में भाग ले सकते हैं। वही अकेला दुख को भोगता है। क्योंकि कर्म करने वाले के ही साथ जाता है।

यदि हम इस भाव को भली भाँति ग्रहण कर लें तो जो धन हम पापाचार से, दूसरों को धोका देकर, औरों को कष्ट देकर, औरों के अधिकारों पर छापा मार कर लाते हैं, इस भाव से कभी न लावें कि अपनी सन्तति के लिये बैंको मे तथा पेटियों मे बहुत सा सोना चान्दी छोड जायें। अथवा बड़े-बड़े मकान, यान, वाहन तथा अन्य सामग्री छोड़ जाये। यदि यह भावना मन मे दृढ़ हो जाए तो हम कभी रिशवत चट्टी न लें। व्योपार में प्रमाण से अधिक लाभ न उठाये। अपनी आवश्यक्ता से अधिक वृथा धन सामग्री एकत्रित करने की दुर्भावना न करे। एक लोकोक्ति है कि-होय कपूत काहे धन जोड़िये, होय सपूत काहे धन जोड़िये। अर्थात्-यदि पुत्र सपूत है तो वह स्वयं कमा लेगा; यदि वह कपूत है तो थोड़े दिनों मे ही एकत्रित धन को नष्ट भ्रष्ट कर देगा। अत शास्त्र कहता है कि धन

इत्यादि सब कुछ ही छोड़ जाना होगा। मरने के पश्चात् जो गति मिलती है वह हमारे कर्मानुसार प्राप्त होती है, और किसी वस्तु अथवा व्यक्ति ने हमारी सहायता नहीं करनी है कहा भी है कि—

चिच्चा दुपयं च चउप्पयं च,
खित्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं।
सकम्मबीओ अवसो पयाइ,
परं भवं सुन्दरं पावगं वा॥

(उत्त० १३-२४)

अर्थात्—हे गौतम! यह आत्मा अपने कर्मों के आधीन होकर स्त्री, पुत्र, हाथी, घोड़े, खेत, घर, रुपया, पैसा, आदि सभी को मृत्यु की गोद मे छोड़ कर जैसे शुभाशुभ कर्म किये होते हैं उन के अनुसार स्वर्ग तथा नर्क में उत्पन्न होता है।

मनुष्य को स्वर्ग नरक की प्राप्ति उस के कर्मानुसार ही होती है। अच्छी बुरी योनि भी कर्मानुसार ही मिलती है। विविध लोकों की प्राप्ति भी कर्मों द्वारा ही होती है। इसी लिये जैन शास्त्र इस विषय का स्पष्टि करण करता हुआ लिखता है कि—

एगया देवलोएसु नरएसु विएगया।
एगया आसुरं कायं अहाकम्मेहिं गच्छइ॥

(उत्त० ३-३)

अर्थात् हे इन्द्रभूति! जैसे कर्म किए है उनके अनुसार आत्मा कभी तो देव लोक में, कभी नरक में, कभी भवनपति आदि असुर की काया मे जाता है।

इस बात पर हर एक धर्म ने बहुत बल दिया है कि जब मनुष्य को दु:ख आ घेरता है उस समय न धन न जन कुछ काम दे सकते। जैन धर्म ने विशेषतया यह दर्शाया है कि

दुःख या मृत्यु के समय मनुष्य की न कोई शरण बन सकता है न रक्षक, उसे अकेले ही दुःख भोगना पड़ता है तथा अकेले ही परलोक जाना पड़ता है। पुनः पुनः बल पूर्वक इस बात को दर्शाने का अभिप्राय यही है कि मनुष्य केवल अपनी आत्मा को शरण बनाये और किसी से आशा न रक्खे। शास्त्र कहता है कि-

वित्तं पसवो य नाइओ तं बाले सरणं ति मन्नइ।
एते मम तेसुवी अहं नो ताणं सरणं न विज्जई॥
(सू० कृ० २-३-१६)

अर्थात्-अज्ञानी जीव धन पशु और ज्ञातिवर्ग को अपना रक्षक मानता है, वह समझता है कि यह सब मुझ को दुःख से बचावेंगे, और मैं इन की रक्षा करूंगा। परंतु वस्तुतः वे उसकी रक्षा नहीं कर सकते। आगे भी कहा है कि-

अब्भागमितंमि वा दुहे अहवा उक्कमिते भवंतिए।
एगस्स गती य आगती विदुमंता सरण न मन्नई॥
(सू० कृ० २-३-१७)

अर्थात्-जब प्राणी के ऊपर किसी प्रकार का दुख आता है तब वह उसे अकेला ही भोगता है तथा उपक्रम के कारणों से आयु नष्ट होने पर अथवा मृत्यु उपस्थित होने पर वह अकेला ही परलोक में जाता है इस लिए विद्वान् पुरुष किसी को अपना शरण नहीं मानते हैं।

शास्त्र तो इस बात को स्पष्ट रूप से कहता है कि मनुष्य मोह ममता से रहित होकर कल्याण मार्ग को गृहण करे, परन्तु यह माया तथा कर्म का जाल ऐसा कराल और कठोर है कि मनुष्य शास्त्र आज्ञा को सुनता और पढ़ता हुआ भी इससे बाहर नहीं निकलना चाहता, अपितु उसे अपने नये कर्मों से और भी सुदृढ़ बनाता है। उसे इस संसार के प्रलो-

मन माया की मूर्तियाँ इस प्रकार से लुभायमान करती हैं कि वह सार बात को भूल जाता है, उसे अपने कर्तव्य का ध्यान ही नहीं रहता. वह सत्य तथा असत्य का निर्णय नहीं कर सकता। वह क्षणिक तथा परम आनन्द में भेद नहीं कर सकता। ऐसे मनुष्य के विषय में जैन शास्त्र कहता है कि-

आउक्खय चेव अवुज्झमाणे,
ममाति से साहसकारि मंदे।
अहो य राओ परितप्पमाणे,
अट्टेसु मूढे अजरामरेव्व ॥

अर्थात्-आरम्भ में आसक्त, अज्ञानी जीव अपनी आयु का क्षय होना नहीं जानता। वह वस्तुओं में ममता रखता हुआ पापकर्म करने से नहीं डरता है। वह रात दिन धन की चिन्ता में पड़ा हुआ अजर अमर की तरह धन में आसक्त रहता है।

यह ममता तथा आसक्ति ही मनुष्य के बंधन का कारण है। जिस धन तथा ऐश्वर्य में मनुष्य आसक्त होकर अपने मन को फँसाता है। उसके यथार्थ रूप को नहीं समझता। यदि उसे इस सपदा तथा विभूति की असारता का ज्ञान हो जाये तो वह उससे अपना मुँह मोड ले। यदि उसे निश्चय हो जाये कि धन संपत्ति सब छोड़ कर चले जाना है तो फिर वह अपने कल्याण पथ पर गमन करे। इसीलिये शास्त्र उसे तत्त्व की बात बता कर सचेत करते हैं कि-

जहाहि वित्त पसवो य सव्वं,
जे बंधवा जेय पियाय मित्ता।
लालप्पती सेऽवि य एइ मोहं,
अन्ने जणा तंसि हरंति वित्तं ॥
(सू० कृ० १०-१६)

अर्थात्-धन और पशु आदि सर्व पदार्थों को छोड़ो-बन्धु

वान्धव तथा प्रिय मित्र आदि कुछ भी उपकार नहीं करते और न कर सकते हैं। तथापि मनुष्य इनके लिए रोता है और मोह को प्राप्त होता है। जब वह प्राणी मर जाता है तो दूसरे मनुष्य उसका कमाया हुआ धन हर लेते हैं।

शास्त्र मनुष्य को कहता है कि हे मूर्ख! जिस धन संपदा केलिये तू मारा मारा फिरता है अपना जीवन नष्ट कर रहा है और उस धन को समाज सेवा के लिये न लगा कर जोड़ जोड़ कर रख रहा है उस पर तो तेरे मरते ही दूसरे लोग अपना आधिपत्य जमा लेंगे। मनुष्य को और भी अधिक चेतावनी देने के लिये शास्त्र पुनरपि कहते हैं कि—

दाराणि य सुया चेव, मिताय तह वन्धवा।
जीवन्तमणुजीवन्ति, मयं नाणुव्वयन्ति य॥ (सू०१८-१४)

अर्थात्–स्त्रियाँ, पुत्र, मित्र और वन्धु-वान्धव सव जीते जी के साथी हैं–उसके उपार्जन किए हुए धन से अपना जीवन तो निर्वाह करते हैं किन्तु मरे हुए के साथ नहीं मरते और न मर सकते हैं।

शास्त्र इसलिये यह वात पुनः पुन. कहते हैं कि जिन ज्ञाति जनो के लिये मनुष्य अनेक प्रकार के पाप कर्म करके अपना खाता गन्दा करता है, जिनके अर्थ पाप कमाई करके लाता है वे उस कमाई के स्वामी तो वन जाते हैं किन्तु न तो पाप कर्म के फल के भागी वनते हैं न वे मरणकाल मे साथ जाते हैं। यहीं नहीं किन्तु मृत्यु हो जाने के पश्चात् मृतक शरीर को वाहर निकाल फैंकते हैं, अपने हाथ से उसका दहन कर देते हैं। जिन वस्तुओं को मनुष्य अपनी अपनी पुकार रहा था, उन सवको छोड़ कर पल्ला झाड़ कर चल देता है। इसी लिये सुन्दर कवि जी कहते हैं कि—

'ये मेरे देश वलायत हैं, ये मेरे मन्दिर ये मेरे थाती,
ये मेरे मात पिता पुनि वांधव, ये मेरे पूत सोए मेरे नाती।

ये मेरी कामिनी केलि करें नित्य ये मेरे सेवक हैं दिन रातीं,
सुन्दर वैसे ही छोड़ि गयो सब, तेल जर्यो सो बुझी जब बाती॥
मन्दिर माल बलायत है गज ऊँट दमामो दलनायक दोहे,
तात हु मात त्रिया सुत बान्धव देख धंपामर होत बिछोहे।
झूठ प्रपञ्च सोराचि रह्यो शठ काठ की पूतरि ज्यों किसी मोहे.
मेरी ही मेरी कहे तिन सुन्दर आँख लगे कहो कौन को को है॥

ज्ञाति वर्ग तथा धन संपत्ति का तो कहना ही क्या है, अपना शरीर ही साथ छोड देता है, कबीर जी कहते हैं कि–

इक दिन ऐसा होयेगा को काहू को नांहि।
घर की नारी को कहे तन की नारी (नाडी) जांहि॥
तू मत जाने बावरे मेरा है सब कोय।
पिण्ड प्राण से बँध रहा सो अपना नहिं होय॥

इसलिये शास्त्र फिर कहता है कि बावरे तू अपना कर्तव्य समझ कि–

नीहरंति मयं पुत्ता, पियरं परमदुक्खिया।
पियरो वि तहा पुत्त, बन्धू रायं तवं चरे॥
(उत० १८–१५)

अर्थात्–हे राजन्! पुत्र मरे हुए पिता को परम दुखी होकर घर से निकाल देते हैं और उसी प्रकार मरे हुए पुत्र को पिता तथा भाई को भाई निकाल देता है। अतः तू तप का आचरण कर।

एक उर्दू का कवि कहता है कि–

कहा छोड़ देंगे सब आखिर रिफाकत।
हो फरजंदो जन उसमें या मालो दौलत॥
न छोड़ेगा पर साथ हरगिज़ तुम्हारा।
भलाई में जो वक्त तुमने गुजारा॥

मनुष्य कर्त्तव्य

संसार में कौन सा ऐसा मनुष्य है जिसे उन्नति की अभिलाषा नहीं है। कोई धन ऐश्वर्य की वृद्धि चाहता है, कोई आत्मोन्नति की आकांक्षा करता है। और है भी यह सत्य। जो मनुष्य आगे बढ़ने की भावना नहीं रखता उसका मनुष्य जन्म ही निष्फल हो जाता है। यह सत्य है कि सभी उन्नति करना चाहते हैं परन्तु उन्हें सफलता नहीं होती। उसका कारण यह है कि वे ठीक उपाय नहीं जानते और इसी लिये इस लोक की उन्नति के आकांक्षी भी अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकते और परलोक को उज्ज्वल बनाने वाले भी अपने निश्चित स्थान पर नहीं पहूँच सकते। जैन शास्त्र ने एक ऐसा सुगम, सरल परन्तु निश्चित रूप से सफलता प्राप्त कराने वाला साधन बताया है कि जिसे प्रयोग में लाने से यह लोक तथा परलोक—दोनों में निस्संदेह पूर्ण रीत्या सिद्धि की प्राप्ति हो सकती है। जैनागम कहता है कि—

> सुत्तेसु यावी पडिबुद्धजीवी,
> न वीससे पण्डिए आसुपन्ने।
> घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं,
> भारंडपक्खीव चरेऽ पमत्ते ॥
>
> (उत्त० ४-६)

अर्थात्—सोते हुओं में जागता हुआ और जागते हुओं में जीवन व्यतीत करने वाला कुशाग्रबुद्धि एवं पंडित पुरुष प्रमाद में और प्रमादी जनों में कभी भूलकर भी विश्वास न करे और समय की भयंकरता तथा शरीर की निर्बलता आदि का विचार करता हुआ भारंड पक्षी की तरह सदा अप्रमत्त रहकर अर्थात्—प्रमाद रहित होकर विचरण करे।

यह है वह उपाय। अर्थात् जो मनुष्य निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद को त्याग कर सचेत रहता हुआ अपने कार्य को करता जायेगा वह उन्नति के शिखर पर पहुँच जायगा। एक उर्दू कवि का कहना है कि-

दौलत की अगर खाहिश है तुम्हें,
हुशियार हो गफलत से बचो।
हर जागने वाला पाता है,
हर सोने वाला खोता है।

भगवद्‌गीता मे भी लिक्खा है कि-

या निशा सर्वभूतानां तस्या जागर्ति संयमी।
यस्या जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने॥

अर्थात्-साधारण मनुष्य जिन जिन उन्नति क्षेत्रों में प्रमादि रह कर अपना समय नष्ट करते है, सयमी पुरुष उन-उन क्षेत्रों मे ही अपना कर्त्तव्य पालन करने के लिए सदैव तत्पर रहते है और जिन पाप तथा अवन्नति युक्त क्षेत्रों मे साधारण मनुष्य पडे हुए सडते रहते हैं। उद्यम शील मुनि उन क्षेत्रों की उपेक्षा करते रहते है।

जैन शास्त्रो ने जो यह उपरोक्त शुद्ध मार्ग वताया है उस पर अग्रसर होने वाला मनुष्य अवश्य मेव वृद्धि को प्राप्त होगा। साथ ही शास्त्र एक चेतावनी भी देता है कि प्रत्येक उन्नति अभिलाषी पुरुष को जहाँ स्वयं प्रमाद रहित होकर जागृत अवस्था मे विचरण करते रहना चाहिये वहाँ इस वात का भी ध्यान रक्खे कि प्रमादी जनो के वस मे न पड़ जाए, अर्थात्-उनका कुसङ्ग न करे। साथ ही इस वात को भी न भूले कि जिस प्रकार समय वडी तीव्र गति से दौड़ा चला जा रहा है उसी प्रकार शरीर का वल भी प्रतिदिन क्षीण होता जा रहा है तथा आयु के साथ-साथ इन्द्रियों की शक्ति भी शिथिल

होती जाती है। जो मनुष्य जैन शास्त्रों में बताये हुए इन निदान तथा पथ्यों को धारण करेगा उसे कभी पश्चाताप न होगा, वरन उसका जन्म सफल हो जायेगा।

फिर प्रश्न होता है कि जागता कौन रह सकता है उस का भी उत्तर जैन शास्त्र देता है और कहता है कि-जागता वही रह सकता है जो उन पुरुषों का सत्सङ्ग करे जो स्वयं जागते हैं, जिन्होंने जागने के लाभ को अनुभव कर लिया है। शास्त्र कहता है कि-

सवणे नाणे विण्णाणे पच्चक्खाणे य संजमे।
अणाहए तवे चेव वोदाणे अकिरिया सिद्धी॥
(भग० श० २ उ०-५ सू० ११२)

अर्थात् हे गौतम! ज्ञानी जनों के संग से धर्म श्रवण होता है, धर्म श्रवण से ज्ञान और ज्ञान से विज्ञान होता है। विज्ञान से दुराचार का त्याग और त्याग से संयमी जीवन होता है। संयमी जीवन से अनाश्रवी, अनाश्रवी से तपवान्, तपवान् होने से पूर्व कर्मों का नाश होता है। पूर्व कर्मों के नाश होने से क्रिया रहित और क्रिया रहित होने से सिद्धी की प्राप्ती होती है।

परन्तु जो मनुष्य सज्जन तथा ज्ञानी पुरुषों का सत्संग नहीं करता है और हर समय प्रमाद में ही लवलीन रहता है वह किसी प्रकार की उन्नति को भी प्राप्त नहीं करता और वह प्राय: नष्ट भी हो जाता है। इसीलिए इस विषय में जैन शास्त्र चेतावनी भी देते हैं और कहते हैं कि इस जीवात्मा को बुरी संगत मे बैठ कर क्या परिणाम भोगना पड़ता है। देखिये-

अवि से हासमासज्ज हंता णंदीति मन्नति।
अलं वालस्स संगेणं वेरं वड्ढइ अप्पणो॥
(आचा० प्र० स्कं० अ० ३ उद्दे० २)

अर्थात्-हे गौतम! बुरी संगति [illegible]ला जीव हास्य आदि मे

आसक्त हो कर प्राणियों की हिंसा ही मे आनन्द मानता है। और उस अज्ञानी की आत्मा का कर्म बॅध जाता है। अत बुरी सगत से दूर रहने की आज्ञा दी गई है। एक पश्चमी विद्वान ने भी कहा है कि-

Evil company is a burning fire. He who falls into it can never remain safe. Bitter no company than evil company.

अर्थात्-बुरी सङ्गत भड़कती हुई अग्नि के समान है जो उसमें पडता है वह सुरक्षित नहीं रह सकता। अत बुरी सङ्गत में जाने से तो यह अच्छा है कि वह किसी की भी सङ्गत मे न जायँ।

एक फारसी का कवि भी कहता है कि "सुहबते सालिह तुरा सालिह कुनद, सुहबते तालिह तुरा तालिह कुनद" अर्थात्-भले पुरुप की सङ्गत मे तू भला हो जायेगा और खोटे पुरुप की संगत तुझे खोटा बना देगी।

जैन शास्त्र फिर बतलाता है कि कैसे पुरुप की सङ्गत करनी चाहिये-

जे आयओ परओ वाविणच्चा, अलमप्पणोहोइ अलं परेसिं।
त जोइभूतं च सयावसेज्जा, जे पाउकुज्जा अणुवीति धम्मं ॥
(सू० कृ० १२-१६)

अर्थात्-जो स्वयं या दूसरे के द्वारा धर्म को जानकर उसका उपदेश देता है वह अपनी तथा दूसरे की रक्षा करने मे समर्थ है। जो सोच विचार कर धर्म को प्रकट करता है उस दिव्य ज्योति स्वरूप मुनि के निकट सदा निवास करना चाहिए।

ऐसे महापुरुषोंका संग किस उद्देश्य से करना चाहिये और मनुष्य का अंतिम लक्ष्य क्या होना चाहिये अब उसे भी निरूपण करते हैं।

जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणिज्ज अप्पाणं एससे परमो जओ॥ (उत्त० ६-३४)

अर्थात्-हे इन्द्रभूति! जिनको कोई भी न जीत सके ऐसे वीरों से युक्त दुर्जय संग्राम में दश लाख सुभटों को जीतने वाले एक मनुष्य की अपेक्षा आत्म सम्बन्धी वासनाओं को जीतने वाले मनुष्य की जीत ही परम जीत है अस्तु आगे भी कहा है कि-

अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण वज्झओ।
अप्पाणमेवमप्पाणं जइत्ता सुहमेहए॥ (उत्त० ६-३५)

अर्थात्-हे इन्द्रभूति! आत्मा के साथ ही युद्ध कर, तुझे दूसरों के साथ युद्ध करने से क्या प्रयोजन। अपने आत्मा के ही द्वारा आत्मा को जीत कर सुख की वृद्धि होती है।

यह है मनुष्य का परम कर्त्तव्य अथवा अन्तिम लक्ष्य। इसी इसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए ऐसे दिव्य ज्योति स्वरूप सत्पुरुषों का सत्संग करना चाहिए। और सर्व प्रकार से अपने आपको जीतना तथा अपने आत्मा पर विजय प्राप्त करना ऐसे सत्पुरुषों की संगति से ही हो सकता है। जिसके लिए पश्चिम का प्रसिद्ध विद्वान मिलटन भी लिखता है कि-

The command of one's self in the greatest empire, a man can aspire unto, and consequently to be subject to our own passions is the most grievous slavery He who best governs himself is best fitted to govern others.

अर्थात्-बड़े से बड़ा राज्य जिस की कोई मनुष्य आकांक्षा कर सकता है वह अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त करना है। इसीलिए अपनी इन्द्रियों के आधीन होना अत्यंत अधम भांति की दासता है। वही मनुष्य दूसरों का श्रेष्ठतम शासक बन सकता है जो अपने पर पूर्णरीत्या शासन कर सकता है।

अर्थात्—परमार्थ तत्त्व का बार बार गुण गान करना, जिन महापुरुषों ने परमार्थ को भली भाँति देखा है—उनकी सेवा शुश्रूषा करना, जो सम्यक्त्व से—सन्मार्ग से पतित हो गये है तथा जो कुदर्शनी—असत्य दर्शन मे विश्वास रखते हैं उन सबकी संगति न करना, यह सम्यक्त्व की श्रद्धा है अर्थात् इन उक्त गुणों से सम्यक्त्व की श्रद्धा प्रकट होती है।

जब इन साधनों से कल्याण मार्ग के लिये मनुष्य के हृदय में श्रद्धा प्रकट हो जाये तो मनुष्य की उन्नति होने लगती है। उस उन्नति का यदि परिमाण लगाना हो तो मनुष्य देखे कि विकट समय तथा आपत्ति आने पर उसके अपने अन्दर धैर्य तथा सहन शीलता की वृद्धि किस सीमा तक हुई है। इसीलिये शास्त्र कहता है कि—

दूरं अणुपस्सिया मुणी तीतं धम्ममणागयं तहा।
पुट्ठे परुसेहिं माहणे अवि हण्णू समयंमिरीयइ॥
(सू० कृ० २-२-५)

अर्थात्—तीन काल को जानने वाला मुनि भूत तथा भविष्यत कालीन प्राणियों के धर्म को तथा मोक्ष को देख कर कठिन वाक्य अथवा दण्ड आदि के द्वारा स्पर्श प्राप्त करता हुआ भी अथवा मारा जाता हुआ भी संयम मार्ग से ही विचरण करता है।

जैन शास्त्र ने आत्म संयम की एक तो यह कसौटी या परीक्षा बताई कि किसी अन्य से पीड़ा दिये जाने पर भी शान्त रहे। अब दूसरी कसौटी बताते है जो शायद उससे भी कठिन है। जो संयमी पुरुष इस कसौटी पर भी पूरा उतर जाय तो उसको सफलता में भी कोई संदेह नहीं रहता। अब वह कसौटी भी सुनिये—

एए य संगे समइक्कमित्ता,
सुहुत्तरा चेव भवंति सेसा।
जहा महासागरमुत्तरित्ता,
नई भवे अवि गंगासमाणा॥
(उत्त० ३२-१८)

अर्थात्—इस पूर्वोक्त स्त्री प्रसंग को उल्लंघन करके शेष पदार्थ सुखोत्तार हो जाते हैं, जैसे महासागर को तैर कर गंगा समान नदियाँ सुखोत्तर-सुख से उतरने योग्य हो जाती है।

संयम मार्ग में सबसे विषम तथा दुष्कर बाधा है स्त्री, इसीलिये कबीरजी ने भी कहा है कि—

"चलो चलो सब कोई कहै पहुँचे विरला कोय।
इक कञ्चन इक कामिनी दुर्गम घाटी दोय॥"

जब साधक इस घाटी का भी उल्लंघन कर जाता है तो वह कितना मान्य तथा प्रतिष्ठित हो जाता है, शास्त्र यह भी बताता है कि—

देवदाणवगन्धव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा।
बम्भयारि नमंसंति दुक्करं जे करन्ति ते॥
(उत्त० १६-१६)

अर्थात्—ब्रह्मचारी को देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर, ये सब नमस्कार करते हैं। क्योंकि वह दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन कर रहा है।

भगवद्गीता में भी नरक के तीन द्वार बतायेगये हैं, उनमें सब से पहला नरक द्वार काम को बताया गया है, जो मुनि इस द्वार को भी पूर्णरीत्या बन्द कर लेता है तो उसके लिये मोक्षमार्ग के प्रति और आगे बढ़ने मे अधिक कठिनाई नहीं होती। जब मन इन दोनों कसौटियों पर पूरा उतर जाये.

अर्थात्-इन दोनों विषम स्थलों को पार कर जाये तो फिर शास्त्र मन का परीक्षण करने की एक और कसौटी बताता है। जैन शास्त्र कहता है कि मानसिक शान्ति इतनी प्रबल हो जाये कि-

पभू दोसे निराकिच्चा, ण विरुज्झेज्ज केणई।
मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अंतसो॥
(सू० कृ० ११-१२)

अर्थात्-जितेन्द्रिय पुरुष सर्व दोषों को हटा कर मन वचन और काया से जीवन पर्य्यन्त किसी के साथ विरोध न करे।

एक पश्चिमी विद्वान De caites लिखता है कि-

When any one has offended me, I try to raise my soul so high that the offence can not reach it.

अर्थात्-जब कोई मेरे साथ अनिष्ट व्यवहार करता है तो मैं अपनी आत्मा को इतना ऊँचा उठा लेता हूँ कि उसका विरोध मेरी आत्मा तक पहुँच ही नहीं सकता, जब कि सन्तप्त किये जाने पर भी मनुष्य की शान्ति भङ्ग नहीं होती तो उसकी अवस्था क्या हो जाती है-

तहिं तहिं सुयक्खायं से य सच्चे सुआहिए।
सया सच्चेण संपन्ने मित्ति भूएहिं कप्पए॥
(सू० कृ० १५-३)

अर्थात्-श्री तीर्थंकर देव ने भिन्न-भिन्न स्थलों में जो जीवादि नव तत्त्वों का अच्छी तरह उपदेश किया है वही सत्य है और वही सुभाषित है। इसलिए मनुष्य को सदा सत्य से युक्त होकर सर्व जीवों से मैत्री भाव रखना चाहिए।

सारे जीवों से मैत्री भाव अत्युत्तम पुरुष का ही हो सकता

मानव धर्म

एक समय श्री ऋषिराज जी महाराज ने मानव धर्म पर व्याख्यान देते हुए प्रतिपादन किया कि जैन धर्म शुष्क दार्शनिक तथा आध्यात्मिक विषयों का ही वर्णन नहीं करता किन्तु मनुष्य जीवन के अन्य अङ्गों पर भी प्रकाश डालता है। देखिये—

सबसे पूर्व मनुष्य को स्वस्थ शरीर की भी आवश्यकता होती है। रोगी अथवा निर्बल शरीर का मनुष्य अपनी पूर्ण उन्नति नहीं कर सकता। अतः जैन शास्त्र लिखता है कि—

सरीरमाहु नावत्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो जंतरंति महेसिणो॥

(उत्त० २३—७३)

अर्थात्—हे गौतम! इस संसार रूप समुद्र के परले पार जाने के लिए यह शरीर नौका के समान है जिसमे बैठ कर आत्मा नाविक रूप होकर संसार समुद्र को पार करता है।

देखिये और कुछ गम्भीरता से विचार कीजिये कितने शुद्ध एवं सुन्दर रूप से शरीर को आरोग्य रखने की भावना दी गई है। यह संसारी मनुष्य धर्म के नाते हर एक विषय को अधिक श्रद्धा भाव से सुनता है और मानता है इसलिये शास्त्र ने शारीरिक आरोग्यता को आत्मिक उन्नति के लिये आवश्यक बताया है और यह सत्य भी है। मुण्डकोपनिषद में भी लिखा है कि—

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो"

अर्थात्-इस आत्मा को और इस आत्मा के सत्य स्वरूप को निर्बल शरीर के मनुष्य नहीं प्राप्त कर सकते। जैन धर्म के परम माननीय जैनागम श्री ठाणांग जी सूत्र के दसमे ठाणे के ६८ वे सूत्र मे जहाँ पर दस सुख बताये गए है वहाँ पर आरोग्यता को सबसे प्रथम अंक मे रक्खा है।

जब शरीर रोगरहित बना लिया गया तब शास्त्र बताता है कि मनुष्य को अपनी आत्मिक उन्नति के लिये क्या कुछ प्रयत्न करना चाहिये। जैसे किसी वृक्ष के मूल मे जल सींचा जाये, तो वह फल फूल सकता है। ऐसे ही जैन शास्त्र प्रत्येक मनुष्य को मूल पकडने की शिक्षा देता है और कहता है कि-

एगेजिए जियापंच, पंचजिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ता णं सव्वसत्तू जिणामहं॥
(उत्त० २३-३६)

अर्थात्-चौबीसवे तीर्थंकर भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य श्री गोतम गणधर जी महाराज ने तेईसवें तीर्थंकर भ० पार्श्वनाथजी के प्रशिष्य श्री केशी स्वामी जी के प्रश्न का उत्तर देते हुए हजारो जन समूह के समक्ष प्रतिपादन किया कि-हे भन्ते! एक को जीतने पर पाँच जीते गये, पाँचों के जीतने पर दश जीते गये, तथा दश प्रकार के शत्रुओं को जीत कर मैंने सभी शत्रुओं को जीत लिया है।

शास्त्र कहता है कि बन्धुओ! इस ससार में तुम्हें अपने प्रधान शत्रुओ से युद्ध करके उन पर विजय प्राप्त करना है। उन शत्रुओं मे सबसे बलवान एवं प्रधान शत्रु अपना आत्मा या मन ही है। जब तक इसको शान्त न किया जाये तब तक किसी भी कार्य मे पूर्ण सफलता प्राप्त करना सम्भव नहीं है। एक पश्चिमी विद्वान Fuller "फुलर" भी लिखता है-

If thou desirest ease, in the first place take care of the ease of thy mind ; for that will make all other sufferings easy. But nothing can support a man whose mind is wounded.

अर्थात्-ऐ मानव ! यदि तुझे शान्ति की अभिलाषा है तो पहले अपने मन की शान्ति का ध्यान कर। क्योंकि ऐसा करने से अन्य सब खेद तथा सन्ताप निवृत्त हो जायेंगे। जिस मनुष्य का मन घायल है उसे कोई वस्तु आश्रय नहीं दे सकती।

मन की शक्ति के विषय में एक और विद्वान Milton (मिलटन) ने भी लिक्खा है कि-

The mind is its own place, and in itself can make a heaven of hell and a hell of heaven.

अर्थात्-मनुष्य का मन अपना स्थान आप ही है और अपने आप में ही स्वर्ग को नरक तथा नरक को स्वर्ग बना सकता है।

अत जैन शास्त्रों ने लिक्खा है कि पहले इस एक को जीतना चाहिये। इस एक के जीते जानें से चार कषाय अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ भी जीते जा सकते हैं। जब चारों कषाय और मन यह पांचों जीते गये तो फिर पॉच इन्द्रियॉ भी वस में आ जाती हैं। जब उन पर भी विजय प्राप्त कर ली जाये तो समझो सारे शत्रुओं को परास्त कर लिया। जिसके ये सब शत्रु मारे गये तो फिर उसको आनन्द धाम में जाने से कोई शक्ति नहीं रोक सकती। उसका जीवन सफल हो जाता है, उसका कल्याण हो जाना अनिवार्य है।

दिव्य-ज्योति

की

दिव्य झलक

अर्हम्

दिव्य ज्योति—

श्री ऋषिराजजी महाराज के

दिव्य जीवन—की

"दिव्य झलक"

जन्म—"सोरई" जिला आगरा (उ० प्र०)
सं० १६०८ चै० शु० ८ मंगलवार।

माता—श्रीमती अयोध्यादेवीजी।

पिता—श्रीमान् चौधरी धनपतसिंहजी।

भ्राता—श्री रणधीरसिंहजी।

बहिने—महासती श्री पारवतीजी, महासती श्री जियोजी।

जाति—क्षत्री राजपूत।

जन्म नाम—श्री लेखराजजी।

दीक्षा—"हिलवाड़ी" जि० मेरठ (उ० प्र०)
सं० १६२६ मं० कृ० ८ मंगलवार।

गुरु—श्री कँवरसैनजी महाराज।

सम्प्रदाय—जैन श्वेताम्बर साधु मार्गी बाईस सम्प्रदायान्तर्गत
"श्री मनोहर सम्प्रदाय"।

दीक्षा आयु—अठारह वर्ष।

दीक्षा नाम—"श्री ऋषिराज जी महाराज"

विद्या गुरु—श्री कँवरसैनजी महाराज।

शास्त्र अध्ययन—३२ जैन आगम सूत्र, श्वेताम्बर शास्त्र,
दिगम्बर शास्त्र, वैदिक साहित्य, उपनिषद्, पुराण,

स्मृति, गीता, भागवत, रामायण, महाभारत, व्याकरण, काव्य, कोश, छन्द, अलंकार, षट् दर्शन, नीति और हदीश आदि।

भाषा और लिपी—संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, उर्दू, फारसी, गुजराती और महाजनी आदि।

ग्रन्थ रचना—सत्यार्थ सागर, विवेक विलास, महिपाल चरित्र, प्रश्नोत्तर माला, महावीर चरित्र, भूमिका, दिगम्बर मत चर्चा आदि।

चतुर्मास—

१९२७ का "आगरा" लोहामण्डी।
१९२८ का ,, ,,
१९२९ का ,, ,,
१९३० का "श्यामली" (मुजफ्फरनगर)
१९३१ का "आगरा शहर" (उ० प्र०)
१९३२ का "हिलवाडी" (मेरठ)
१९३३ का "वडसत" जिला करनाल।
१९३४ का "कुरालसी" जिला मुजफ्फरनगर।
१९३५ का "ढिंढाली" ,,
१९३६ का "वडसत" जिला करनाल।
१९३७ का "एलम" जिला मुजफ्फरनगर।
१९३८ का "ढिंढाली" ,,
१९३९ का "झिंझाणा" ,,
१९४० का "एलम" ,,
१९४१ का "हिलवाड़ी" जिला मेरठ।
१९४२ का "ढिंढाली" जिला मुजफ्फरनगर।
१९४३ का "वड़सत"-जिला करनाल।

१६४४ का "निरपाड़ा" जिला मुजफ्फरनगर।
१६४५ का "श्यामली" जिला मुजफ्फरनगर।
१६४६ का "वड़सत" जिला करनाल।
१६४७ का "लिसाढ" जिला मुजफ्फरनगर।
१६४८ का "हिलवाड़ी" जिला मेरठ।
१६४६ का "वड़सत" जिला करनाल।
१६५० का "करनाल शहर" जिला करनाल।
१६५१ का "काछुवा" जिला करनाल।
१६५२ का "वड़सत" जिला करनाल।
१६५३ का "करनाल शहर" जिला करनाल।
१६५४ का "काछुवा" जिला करनाल।
१६५५ का "पीर विड़ोली" जिला मुजफ्फरनगर।
१६५६ का "एलम" जिला मुजफ्फरनगर।
१६५७ का "विनौली" जिला मेरठ।
१६५८ का "करनाल शहर" जिला करनाल।
१६५६ का "काछुवा" " "
१६६० का "वड़सत" " "
१६६१ का "करनाल शहर" " "
१६६२ का "काछुवा" " "
१६६३ का "वड़सत" " "
१६६४ का झिंझाणा" जिला मुजफ्फरनगर।

विचरण क्षेत्र—उत्तर प्रदेश, पंजाव प्रान्त, राजस्थान आदि।
दीक्षित शिष्य—पं० श्री प्यारेलालजी महाराज,
गणी श्री श्यामलालजी महाराज।
प्रशिष्य मुनि—पं० श्री प्रेमचन्द्रजी महाराज, त० श्री श्रीचन्द्रजी महाराज कवि श्री हेमचन्द्र जी महाराज।

प्रपौत्र शिष्य—श्री कस्तूरचन्द्रजी महाराज, श्री कीर्तिचन्द्रजी
महाराज, श्री उमेशचन्द्रजी महाराज।
स्वर्गवास—"झिझाणा" जिला मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)।
सं० १९९४ पौष कृष्णा द्वितीया शनिश्चरवार।
बाल अवस्था—अठारह वर्ष।
वैराग्य अवस्था—दो वर्ष।
दीक्षा पालन—३८ वर्ष २५ दिन।
सर्व आयु—५९ वर्ष ९ मास।

"ॐ नमो सिद्धाणं"